ॐ

सूर्यप्रकाश-परीक्षा

[ग्रन्थपरीक्षा चतुर्थ भाग]

आवश्यक निवेदन !

जहाँ जहाँ "सूर्यप्रकाश" ग्रन्थ बँधा रखा हो, उसके साथ यह परीक्षा भी हमसे मँगाकर अवश्य ही बाँधकर रख दीजिये, ताकि भविष्यमे जनता धोके से बच सके।

—प्रकाशक

लेखक—
पंडित जुगलकिशोर मुख्तार।

अर्हम्

चर्चासागरके बड़े भाईकी जाँच

अर्थात्

सूर्यप्रकाश-परीक्षा

(ग्रन्थपरीक्षा-चतुर्थ भाग)

लेखक—

पंडित जुगलकिशोर मुख़्तार

सरसावा जिला सहारनपुर

[ग्रंथपरीक्षा त्रयभाग, स्वामी समंतभद्र, जिनपूजाधिकारमीमांसा, उपासनातत्त्व, विवाहसमुद्देश्य, विवाहक्षेत्रप्रकाश, जैनाचार्यों-का शासनभेद, वीरपुष्पांजलि, हम दुखी क्यों हैं, मेरी भावना और सिद्धि-सोपान आदि अनेक ग्रन्थोंके रचयिता ।]

प्रकाशक—

जौहरीमल जैन, सर्राफ़

दरीबाकलाँ, देहली

मुद्रक—

'चैतन्य' प्रिंटिंग प्रेस, बिजनौर

प्रथमावृत्ति हज़ार प्रति	पौष, वीर सं० २४६० जनवरी १९३४	मूल्य— विचार और प्रचार

धन्यवाद !

इस पुस्तकके प्रकाशनके लिये जिन जिन दानी महानुभावो ने निम्न लिखित आर्थिक सहायता दी है, उन सब ही के हम हृदय से आभारी हैं :—

१००) ला० धनकुंवार छोटेलाल जी रईस, कानपुर
२५) ला० मुन्नूलाल श्योसिंह राय जी रईस, शाहदरा (देहली)
२५) बाबू छोटेलाल जी जैन रईस, कलकत्ता,
२०) ला० सिद्धोमल एण्ड सन्स कागज़ी, देहली
१०) ला० जानकीदास जी, किनारी बाज़ार, ,,
१०) ला० मुंशीलाल जी किमाब वाले, ,,
१०) गुप्त दान
१०) ला० छज्जूमल जी रईस कपड़े वाले, ,,
१०) ला० मक्खनलालजी टेकेदार दरियागंज ,,
५) रा० ब० ला० नन्दकिशोर जी ,,
५) ला० जैनीलालजी कागज़ी, मोती बाज़ार, ,,
५) ला० न्यादरमल पूरनचन्द्र जी सर्राफ़, ,,

२३५) कुल जोड़

—प्रकाशक ।

प्रकाशकके दो शब्द

'सूर्यप्रकाश' कैसा—किस कोटिका—जाली ग्रन्थ है, कितना अधिक जैनत्वसे गिरा हुआ है, कहा तक भ० महावीर के पवित्र नामको कलंकित तथा जैनशासनको मलिन करने वाला है और उसका अनुवाद कितना अधिक निरंकुशता, धूर्तता एवं अर्थके अनर्थको लिये हुए है, ये सब बातें इस परीक्षा-लेखमालामें दिनकर-प्रकाशकी तरह स्पष्ट करके बतलाई गई हैं। जैनसमाजमें ग्रन्थोंकी परीक्षाके मार्गको स्पष्ट और प्रशस्त बनाने वाले मुख्तार साहिब पं० जुगलकिशोरजीकी यह लेखमाला 'जैनजगत' में, १६ दिसम्बर सन १९३१ के अङ्कसे प्रारंभ होकर पहली फ़र्वरी सन १९३३ तकके अङ्कोंमें, १० लेखों द्वारा प्रकट हुई थी। उसीको मुख्तार साहिबसे पुनः संशोधित कराकर यह पुस्तक-रूपमें प्रकट किया जा रहा है। लेखक महोदयने इस लेखमालाके द्वारा ग्रंथकी असलियतको खोलकर निःसन्देह समाजका बड़ाही उपकार किया है। आपका यह लिखना बिलकुल ठीक है कि इस ग्रंथकी गोमुख-व्याघ्रता 'चर्चासागर' से भी बढ़ी चढ़ी है और इसलिये इसके द्वारा समाजको अधिक हानि पहुँचनेकी संभावना है। अतः समाजके सभी सज्जनोंसे मेरा सानुरोध निवेदन है कि वे इस पुस्तकको गौरके साथ साद्यन्त पढ़नेकी कृपा करें और उसके फलस्वरूप चर्चासागरके इस बड़े भाई 'सूर्यप्रकाश' का शीघ्र ही पूर्ण रूपसे बहिष्कार करके प्राचीन जैनसाहित्य और जैनशासनकी रक्षाका पुण्य संपादन करें।

अंतमें मैं, लेखकमहोदय और भूमिका-लेखक पं० दरबारीलालजीका तथा श्रीमान ब्र० दीपचन्द्रजी वर्णीका हृदयसे आभार मानता हुआ, उन सभी सज्जनोंका सहर्ष धन्यवाद करता हूँ जिन्होंने इस पुस्तकके प्रकाशनमें मुझे आर्थिक आदि किसी भी प्रकारकी सहायता प्रदान की है।

—जौहरीमल जैन।

मेरे विचार !

कोई चार वर्षके करीब हुए, जांबुडा (गुजरात) में मुझे 'सूर्यप्रकाश' ग्रन्थको देखनेका अवसर मिला था और उसे देखने पर ग्रंथके निर्माण, अनुवाद, प्रकाशन और दिगम्बर जैन पुस्तकालय सूरतके विज्ञापनमें उसे स्थान दिये जाने आदि पर कितनी ही शंकाएँ उत्पन्न हुई थीं। हालमें पं० जुगलकिशोरजी मुख्तार की लिखी हुई उसकी पूरी परीक्षा-लेखमालाको भी मैंने पढ़ा है। वास्तवमें स्वामी समन्तभद्रद्वारा प्रतिपादित शास्त्रलक्षण के अनुसार यह 'सूर्यप्रकाश' ग्रंथ कोई जैनशास्त्र नहीं है। इसमें पदपद पर विरोध भरे पड़े हैं, प्रतिवादियोंको इसके द्वारा जैनधर्मके खंडनका एक अमोघ शस्त्र प्राप्त हो जाता है, तत्त्वोपदेशका तो इसमें नामोनिशान भी नहीं है, साथ ही प्राणियोंको जोकि विचारे आपही मोक्षमार्गको भूल हुएहैं और भी भुलावे में डालकर उनका अहित करनेवाला है और मिथ्यात्वका वर्धक है। तब ग्रंथकारने ऐसा मिथ्यात्वपोषक ग्रंथ रचा ही क्यों? इस शंकाके लिए इतना ही समझलेना काफ़ी होगा कि अहमन्य मुनिराज सोमसेन भट्टारकने जब त्रिवर्णाचार जैसा ग्रंथ रचकर संसारको भुलावेमें डालदिया है तब ये ग्रंथकार महाशय नेमिचन्द्र भी तो उन्हीं शिथिलाचारी भट्टारकोंके शिष्य-प्रशिष्य हैं, शिष्य महाशय यदि गुरुसे दो क़दम आगे न बढ़ें तो गुरुका नामही क्या चलासकेंगे? ठीक है, इनको ऐसा ही करना उचित था, क्योंकि ये बहुआरंभी और परिग्रही थे, विषय-कषायोंके गहरे रंगमें रंगे हुए थे, ऐसा करनेमें ही इनके प्रयोजनकी सिद्धि थी अथवा ये ऐसा ही कर सकते थे। इनके पास थे भी मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र, उन्हींको इन्होंने दूसरोंको बतलाया है।

भट्टारकीय संस्कारोंसे संस्कारित होने के साथ साथ ये ग्रंथकार महाशय अज्ञानबहुल भी थे, इसीसे वे अपनी इस रचना में सिद्धहस्त न हो सके। इन्होंने जो कुछ विचार प्रकट किये वे सब भगवान महावीरके मुखसे भविष्यमें होने वाली घटनाओंके सम्बन्ध में किये हैं परन्तु खेद है कि भविष्य कहलाते कहलाते आप भूत भी कहलाने लगे और वह भी उनके सम्बन्धमें जिनका अस्तित्व न तो भगवान महावीरसे पहले ही था और न वे वीर प्रभुके समकालीन ही थे! इसीके साथ आप ऐसी ऐसी बातें भी कहलागये जो पूर्वापर विरोध को लिये हुए तथा जैन सिद्धान्तके सर्वथा विरुद्ध हैं। इतना ही नहीं, किन्तु जिन कठोर एवं तिरस्कारमय अपशब्दोंके कहनेमें एक साधारण अज्ञानी तीव्रकषायी जीव भी शंकित और संकुचित होवे उन्हें भी आप बिना किसी सकोच के परम वीतरागी भ० महावीरके मुखसे कहला गये हैं! और वह भी प्रायः उन्हींके उपासकोंके प्रति!! इन सब असम्बद्ध विरुद्धादि विलक्षण बातोंका इस परीक्षामें विस्तारके साथ अच्छा दिग्दर्शन कराया गया है। उसे पाठकोंको देखना चाहिये। अच्छा होता यदि ग्रंथकार महाशय अपने विचार स्वयं स्वतंत्र रीतिसे लिखते और महाराजा श्रेणिक का सम्बन्ध मिलाकर उन्हें वीर प्रभुके द्वारा कहे गये प्रकट न करते इससे प्रभुका अवर्णवाद तो न होता। अपने विचारों के साथमें महावीर प्रभुका नाम जोड़ देना घोर अपराध है और दूसरोंको धोखा देना है।

समझमें नहीं आता प० नन्दनलालजी वर्तमान क्षुल्लक ज्ञानसागर जी महाराज अपना गृहस्थावास त्याग करके जब केवल सम्यग्दर्शनादि आराधनाओं को विशेष रूपसे आराधन करनेके लिये ही अनगार संघमें विचर रहे हैं तब वे ऐसे दूषित ग्रन्थोंके अनुवादादिद्वारा उनके प्रचारमें क्यों लग गये? आपने केवल सूर्यप्रकाश ही नहीं किन्तु चर्चासागर भी प्रकाशित करा-

कर दानविचार भी स्वतंत्र रच डाला, जिनकी समीक्षाएँ भी निकल चुकी हैं और जिनके कारण समाजमें खासी हलचल (जंग) मची हुई है। मेरी यह शंका और भी गम्भीर हो जाती है जब मैं देखता हूं कि इन ग्रन्थोंका समर्थन दक्षिणी मुनि-संघके द्वारा किया गया है। श्रीमान आचार्य शान्तिसागरजी महाराज कुछ भी इनके विरुद्ध अपना मत प्रकट नहीं कर रहे हैं और इसलिये कितनो ही भोली जनता इनको जैन शास्त्र समझकर अपना रही है। मालूम होता है या तो आचार्य शान्तिसागर महाराज इन ग्रंथोंसे सहमत हैं या अपने सच्चे विचार किसी-कारणसे प्रगट करनेमें असमर्थ हैं अथवा उनको असली बात बतलाई ही नहीं जाती। कुछ भी हो, उनका कर्त्तव्य है कि वे इनके विषयमें शीघ्र ही अपना स्पष्ट मत जैसा हो वैसा अवश्यही प्रगट करादेवें, जिससे जनता का भ्रम मिट जावे। जहां तक मैं समझता हूँ उनको ग्रंथों तथा ग्रंथसमीक्षाओं आदिकी ये सब बातें विदित ही नहीं होतीं और योंही संघकी अकीर्ति होरहा है! अतः समाजके व्यक्तियोंको चाहिये कि वे आचार्य महाराजके परिचय-में ये सब बातें लाएँ और फिर उनसे पूछें कि वे प्रस्तुत ग्रन्थादि-के विषयमें अब क्या मत रखते हैं?—इन्हें आर्ष ग्रन्थ (आगम) मानते हैं याकि धर्मविरुद्ध संसार परिपाटीके वर्द्धक मानते हैं?

खेद है कि अनुवादक महाशय क्षुल्लक ज्ञानसागरजीने इस ग्रंथके कर्ता पं० नेमिचन्द्रको आचार्य नेमिचन्द्र बना डाला है! और अनुवादमें मूलार्थके नामसे बहुतसी अपनी बातें मिला दी हैं!! उनकी इस कृतिसे भले ही कुछ भोले भाले प्राणी ठगाये-जायं परन्तु विवेकी परीक्षक पुरुष तो कभी भी ठगाये नहीं जा सकते। वे जब आचार्य नेमिचन्द्र की कृतियों के साथ पं० नेमि-चन्द्रकी इस कर्तृत 'सूर्यप्रकाश' को अथवा बाबा भागीरथजी वर्णीके शब्दोंमें "घोर मिथ्यात्वप्रकाश" को रक्खेंगे तो वे इसे

पढ़ना तो अलग रहा छूना भी पसंद नहीं करेंगे। अच्छा होता यदि अनुवादक महाशय मूलार्थ जैसा का तैसा प्रगट करके टिप्पणीमें चाहे जो कुछ लिखते, इससे अनुवादका मूल्य बढ़ जाता। अथवा जिनजिन विषयोंपर आपको विवेचन करना था उनपर स्वतंत्र ही लिखते तो भी अच्छा होता। परन्तु उन्होंने ऐसे पूर्वापरविरोधी आगमविरोधी, वीर प्रभुका अवर्णवाद करने वाले ग्रंथका सहारा लिया इससे जनतापर उलटाही प्रभावपड़ा।

अन्तमें मैं श्रीमान क्षुल्लक ज्ञानसागरजी और मुनिसंघसे भी सादर निवेदन करताहूं कि वे इस ग्रन्थपरीक्षाकी रोशनीमें पुनः इस ग्रंथपर विचार करके अपना मत प्रगट करनेकी कृपा करें, तथा भविष्यमें ऐसे ग्रंथोका ही प्रकाशन व समर्थन करें जो वीरवाणीके अनुसार श्रीकुन्दकुन्दादि माननीय आचार्यों द्वारा रचित होवें—अर्थात् जो मिथ्यात्व अंधकारके नाशक, रागद्वेषादि संसारकी परिपाटीके उच्छेदक तथा वीतरागता-विज्ञानताके पोषक होवें ! और जनतासे भी साग्रह प्रेरणा है कि वह भी अब परीक्षाके समयमें ज्यों त्यों किसी पूर्व ऋषि के नाम मात्रसे ठगावें नहीं किन्तु उन ऋषियोंके अन्यान्य वचनोंसे, आगम और आम्नायसे मिलान करें, फिर अनुमान और अनुभव से जाच करके ही स्वीकार करें, क्योंकि जितने वचन वीतराग विज्ञानताके पोषक हैं वे सब जैनवचन हैं और जो रागादिक वर्द्धक हैं वे सब जैनधर्मके विरुद्ध मिथ्याशास्त्र या वचन हैं।

मैंने ये विचार सज्जनोंके विचारनेके लिये लिखे हैं। मुझे किसी से कोई विरोध नहीं है। मैं तो सत्य जिन (वीर) वाणी का प्रकाश चाहता हूं, उसीका उपासक हूं।

ऋषभब्रह्मचर्याश्रम, मथुरा	श्री वीर-शासन-सेवी—
कु० व० ९, वीराब्द २४५९	**दीपचन्द्र वर्णी**

विद्वानों की कुछ सम्मतियां

(१) त्यागमूर्ति बाबा भागीरथजी वर्णी—

"संसारमें जितने अनर्थ होते हैं वे केवल स्वार्थसिद्धि पर निर्भर हैं। इस ग्रन्थका नाम 'सूर्यप्रकाश' है यदि 'घोर मिथ्यात्व प्रकाश' रहता तो अच्छा होता, क्योंकि इसमें श्री महावीर स्वामीका घोर अवर्णवाद किया गया है।"

(२) न्यायालंकार पं० वंशीधरजी सिद्धान्तशास्त्री, इन्दौर—

"आपकी जो अति पैनी बुद्धि सचमुच सूर्यके प्रकाशका भी विश्लेषण कर उसके अन्तर्वर्ति तत्त्वोंके निरूपण करने में कुशल है उसके द्वारा यदि नामतः सूर्यप्रकाशकी समीक्षा की गई है तो उसमेंका कोई भी तत्त्व गुह्य नहीं रह सकता है। अनुवादकके हृदयका भी सच्चा फोटू आपने प्रगट कर दिखाया है। आपकी यह परीक्षा तथा पूर्व-लिखित ग्रथपरीक्षाएं बड़ी कामकी चीज़ होगी।"

(३) पं० परमेष्ठीदासजी, न्यायतीर्थ, सूरत—

" 'सूर्यप्रकाश-परीक्षा' के लेख मैंने अक्षरशः पढ़े हैं। उनकी तारीफ मैं तो क्या करूं, मगर विरोधी जीवभी बेचैन होजाते होंगे! परन्तु वे क्या करें? हठका भूत जो उनपर सवार है!!!"

(४) रायबहादुर साहु जगमन्दरदासजी, नजीबाबाद—

"चर्चासागर के बड़े भाई 'सूर्यप्रकाश' ग्रन्थकी परीक्षा देखकर तो मेरे शरीरके रोंगटे खड़े हो गये! .... 'पूज्य पं० टोडरमलजी आदि कुछ समर्थ विद्वानोंके प्रयत्नसे यह भट्टारकीय साहित्य बहुत कुछ लुप्तप्राय हो गया था परन्तु दुःखका विषय है कि अब कुछ भट्टारकानुयायी पंडितोंने उसका फिरसे उद्धार करनेका बीड़ा उठाया है। अतः समाजको अपने पवित्र साहित्यकी रक्षाके लिये बहुत ही सतर्कताके साथ सावधान हो जाना चाहिये और ऐसे दूषित ग्रथों का ज़ोरोंके साथ बहिष्कार करना चाहिये, तभी हम अपने पवित्र धर्म और पूज्य आचार्यों की कीर्तिको सुरक्षित रख सकेंगे।"

भूमिका

"जितना पीला है उतना सब सोना नहीं है" यह कहावत उन भोले भाइयोंको समझानेके लिये बहुत ही उपयुक्त है जो विवेक और गंभीर दृष्टिसे काम न लेकर वेष और भाषाके जालमें फँसकर सन्मार्ग पर नहीं पहुँचने पाते या उससे भ्रष्ट होते हैं। शास्त्रोंके विषयमें यह कहावत पूर्ण रूपसे चरितार्थ होती है। मिथ्यात्वकी तीन मूढताओंमें शास्त्रमूढताको जो स्वतंत्र स्थान नहीं दिया गया उसका कारण यह है कि यह एक स्वतन्त्र मूढता नहीं है किन्तु सब मूढताओंका प्राण है सब मूढताओंके मूलमें यह मूढता रहती है। यह मूढताओं की जननी है।

साधारण लोगोंकी विवेक शक्ति बहुत हलकी रहती है। और किसी चीज़को पहचाननेके लिये उनके लक्षण बहुत व्यभिचरित रहते हैं। यही कारण है कि शास्त्रोंके समान वे शास्त्रोंकी भाषाओंको भी महत्व देते हैं। इसीसे लोग शास्त्रके समान संस्कृतके किसी भी श्लोकसे घबराते हैं—डरते हैं। जनताकी इस कमजोरीका धूर्त पंडितोंने खूबही दुरुपयोग किया है। संस्कृत भाषा भारतके प्रायः सभी प्राचीन सम्प्रदायोंमें सन्मानकी दृष्टिसे देखी जाती है इसलिये धूर्त पंडित इसका सदा दुरुपयोग करते रहे हैं। सभी सम्प्रदायोंमें इस प्रकारका धूर्ततापूर्ण साहित्य तय्यार हुआ है और बहुत अधिक हुआ है। जैनियोंने जिस प्रकार साहित्यके सभी अंगोंकी पूर्ति की है उसी प्रकार इस अंगविकार की भी पूर्ति की है।

धर्म के नामपर अनेक जैन लेखक बड़ासे बड़ा पाप करने से भी पीछे नहीं हटे हैं। यहांतक कि उन्होंने मनमाने ग्रंथ

बनाकर उनके रचयिता भद्रबाहु श्रुतकेवली, कुन्दकुन्द, उमास्वामी, जिनसेन, आदिको बना दिया है। और इस प्रकार जनताकी आंखोंमें धूल झोंकनेकी असफल कुचेष्टा की है। कुछ लोग ऐसे हैं जिन्होंने ग्रन्थ पर तो अपना नाम दिया है परन्तु उसमें भ० महावीर आदिके मुखसे इस प्रकारके वाक्य कहलाये हैं जो जैनधर्मके विरुद्ध, क्षुद्रतापूर्ण और दलबन्दोके आक्षेपोंसे भरे हुए हैं।

इसी श्रेणीके ग्रंथोंमें 'सूर्यप्रकाश' भी एक है, जिसकी अधार्मिकता और अनौचित्यका इस पुस्तकमें मुख्तार साहिबने बड़ी अच्छी तरहसे प्रदर्शन किया है। इस प्रकारके जाली ग्रन्थोंका भंडाफोड़ करनेके कार्यमें मुख्तार साहिब सिद्धहस्त हैं। आपने भद्रबाहु-संहिता, कुन्दकुन्द-श्रावकाचार, उमास्वामी-श्रावकाचार, जिनसेन-त्रिवर्णाचार आदि जाली ग्रन्थोंकी परीक्षा करके शास्त्रमूढताको हटानेका सफलतापूर्ण और प्रशंसनीय उद्योग किया है।

ग्रंथ परीक्षाके इस कार्यकी सैकड़ों विद्वानोंने जहाँ मुक्त कण्ठसे प्रशंसा की है वहाँ इस कार्यके निन्दकोंकी भी कमी नहीं है। परन्तु इससे अन्धविश्वासियों और स्वार्थियोंकी अस्तित्व-सिद्धिके सिवाय और कुछ प्रतीत नहीं होता।

सत्यके दर्शन बड़े सौभाग्यसे मिलते हैं। दर्शन होनेपर उसतक पहुंचना बड़ी वीरताका कार्य है और पहुंच करके उसके चरणोंमें सिर झुकाकर आत्मोत्सर्ग करना देवत्वसे भी अधिक उच्चताका फल है। जिनका यह सौभाग्य नहीं है, जिनमें यह वीरता नहीं है, जिनमें यह उच्चता नहीं है वे असत्यके जालमें फंसकर अपना सर्वस्व नष्ट करते हैं। इतनाही नहीं; किन्तु उनका ईर्षालु हृदय दूसरोंकी सत्य-प्राप्तिको सहन नहीं कर सकता। इसलिये वे निन्दा करते हैं, गालियाँ देते हैं, कटाक्षेप

करते हैं और जिस आधारपर वे अपनी सत्यताके गीत गाते हैं उस आधारको काटने तकके लिये तैयार हो जाते हैं !

"जैनधर्म एक वैज्ञानिक धर्म है" इस बातको वे लोगभी बड़े गौरवके साथ कहते हैं जो बिलकुल अन्धश्रद्धालु हैं, और दूसरों की आलोचना करते समय जो परीक्षाकी युक्ति-तर्ककी दुहाई देते हैं। परन्तु जब किसी निःपक्ष परीक्षासे उनके अन्धविश्वासको या स्वार्थको धक्का पहुँचता है तब उनका हृदय तिलमिला उठता है। वे शास्त्रकी परीक्षाको पाप कहने लगते हैं। इस समय उनकी हास्यास्पद मनोवृत्ति एक तमाशा बन जाती है।

इस दुर्मनोवृत्तिसे त्रस्त होकर वे चिल्लाने लगते हैं कि "बस ! परीक्षा मत करो। परीक्षा करना पाप है। सरस्वतीकी परीक्षा करना माताके सतत्वोको परीक्षा करनेके समान निंद्य है। जब हम मा बापकी परीक्षा नहीं करते तब हम सरस्वतीकी परीक्षा करनेका क्या हक है ? दुनियाँके सैकड़ो कार्य बिना परीक्षाके ही चलते हैं आदि।"

अगर कोई वैनयिक मिथ्यात्वी या आज्ञानिक मिथ्यात्वी इस प्रकारके उद्गार निकालता तो उसकी इस मनोवृत्तिको अनुचित कहते हुए भी हम क्षम्य समझते। परन्तु जो एकान्त या विपरीत मिथ्यात्वी हैं और अपनेको सम्यक्त्वी विवेकी ज्ञानी समझते हैं तथा अपने पक्षका मंडन और पर-पक्षका खंडन करते हैं, जब वे परीक्षाको पाप कहने लगते हैं तब उनकी यह निर्लज्जता उस सीमा पर पहुँच जाती है जिसे देखकर निर्लज्जता भी लज्जित हो जावे।

अरे भाई ! मा बापकी परीक्षा न करना तो ठीक, परन्तु जगत्में ऐसा कौन प्राणी है जो जीवनके अधिकांश कार्य परीक्षा-पूर्वक न करता हो। एक कीड़ी भी जब कोई चीज़

खाती है तब अपनी शक्तिके अनुसार उसकी परीक्षा कर लेती है कि वह भक्ष्य है या अभक्ष्य ? हम भी हरएक पुरुषको बाप नहीं मानते किन्तु आकृति आदिसे पहिचानकर—परीक्षाकर—उसे बाप मानते हैं। हां, यह बात दूसरी है कि कहीं परीक्षा शीघ्र होती है, कहीं देरीसे होती है, कहीं थोड़ी होती है, कहीं बहुत होती है, कहीं अल्पावश्यक होती है, कहीं बह्वावश्यक होती है; परन्तु परीक्षा होती सब जगह है। इस विषयमें तीन बातें विचारणीय हैं—

१. वस्तुका मूल्य, २. परीक्षाकी सुसम्भवताकी मात्रा, ३ परीक्षा करने न करनेसे लाभ-हानिकी मर्यादा।

१—रत्न परीक्षामें हम जितना परिश्रम करते हैं उतना भाजी तरकारीकी परीक्षामें नहीं करते। बहुमूल्य वस्तुकी जाँच भी बहुत करना पड़ती है। धर्म अथवा शास्त्र सबसे अधिक बहुमूल्य है, उस पर हमारा ऐहिक और पारलौकिक समस्त सुख निर्भर है। उसका स्थान मा बापसे बहुत ऊँचा और बहुत महत्वपूर्ण है, इसलिये अगर हम सब पदार्थोंकी परीक्षा करना छोड़ दें तो भी शास्त्रकी परीक्षा करना हमें आवश्यक ही रहेगा।

२—माताके सतीत्व असतीत्वकी परीक्षा करनेका हमारे पास सुलभ साधन नहीं है। उसकी प्रामाणिक साधन-सामग्री मिलना बहुत कठिन है, जबकि शास्त्रपरीक्षामें हमारी विवेक बुद्धि ही पूरा काम कर सकती है। और परीक्षाकी साधन-सामग्री भी बहुत मिलती है।

३—तीसरी और सबसे अधिक विचारणीय लाभहानि-की मर्यादा है। माताके सतीत्वकी परीक्षा सरल हो या कठिन, परन्तु पुत्रके लिये वह निरर्थक है। क्योंकि अब वह दूसरेके गर्भमें जाकर अन्यका पुत्र नहीं बन सकता। उसकी माता,

सती हो या असती, उसकी माता ही बनी रहेगी। इसके अतिरिक्त असती होने पर भी माताके उपकारोंका बोझ हट नहीं सकता। परन्तु शास्त्रके विषयमें यह बात नहीं है। शास्त्र अगर कुशास्त्र हो तो हमको अधोगतिमें ले जायगा, हमारे जीवनको बर्बाद कर देगा। साथ ही वह हमारे जीवनके साथ बंधा हुआ नहीं है, हम चाहें तो कुशास्त्रसे अपनी श्रद्धाको हटा सकते हैं।

इस प्रकार तीनों दृष्टियोंसे शास्त्रकी परीक्षा अन्य सब परीक्षाओंकी अपेक्षा अधिक आवश्यक है।

कोई कोई भाई कहने लगते हैं कि "जिन शास्त्रों से हमने अपनी उन्नति की उनकी परीक्षा करना तो कृतघ्नता है" ऐसे भाइयोंको समझना चाहिये कि उन्नतिका कारण सत्य है असत्य नहीं। शास्त्रोंमें जो सत्य है उसको छोड़नेका कोई उपदेश नहीं देता—असत्यको छोड़नेका उपदेश देता है, जो कि हमारी उन्नतिका कारण नहीं है।

दूसरी बात यह है कि जिन जाली शास्त्रोंकी हम परीक्षा कर रहे हैं उनको पढ़ करके हम उन्नत हुए हैं यह कहना मिथ्या है।

तीसरी बात यह है कि अगर हम दूधको पीकर पुष्ट हुए हैं इस पर कोई विषमिश्रित दूध पिलाना चाहे और हम न पियें तो इसमें दूधका अपमान नहीं विषका अपमान है। शास्त्रमें असत्यका मिश्रण होने से अगर हम उसका त्याग करते हैं तो इसमें असत्यका अपमान है न कि शास्त्रका।

चौथी बात यह है कि परीक्षा कृतघ्नताका नहीं, किन्तु प्रेमभक्ति और आदरका परिणाम है। सुवर्णसे हम प्रेम करते हैं इसलिये उसकी खूब परीक्षा करते हैं। उसमें कोई मैल न रह जाय इसलिये बार बार अग्निमें डालते हैं। इसका अर्थ

यह नहीं है कि हम सुवर्णसे द्वेष करते हैं। इसी प्रकार शास्त्र की परीक्षा करना भी प्रेम, भक्ति और आदरका सूचक है।

कोई कोई भाई कहने लगते हैं कि 'हम शास्त्रकारसे अधिक बुद्धिमान हों तो परीक्षा कर सकते हैं'। परन्तु यह विचार भी ठीक नहीं है। पहिली बात तो यह है कि अमुक ग्रन्थ बनाने वाला आजकलके सब मनुष्योंसे अधिक बुद्धिमान था यह समझना मिथ्या है।

दूसरी बात यह है कि अल्पबुद्धि होकरके भी हम किसी बातकी परीक्षा कर सकते हैं। सुन्दर गानकी परीक्षाके लिये सुन्दर गायक होना आवश्यक नहीं है। यदि हम स्वयं परीक्षा न कर सकते हों तो दूसरा आदमी जो परीक्षा करे उसकी जाँच तो अवश्य कर सकते हैं। अगर हम इतनी भी परीक्षा नहीं कर सकते तो अपने पक्षको सत्य और दूसरेके पक्षको असत्य कहनेका हमें कोई हक नहीं रह जाता है। हम विवेकियोंमें अपनी गणना कदापि नहीं कर सकते।

जैनसमाजमें छोटे छोटे बालकोंको भी शास्त्रका लक्षण पढ़ाया जाता है। लक्षणका उपयोग परीक्षामें ही है। यदि शास्त्रकी परीक्षा करना पाप है तो उसका लक्षण बनाना और पढ़ाना भी पाप है, क्योंकि परीक्षाके सिवाय लक्षणका दूसरा उपयोग ही क्या है? जबकि हमारे आचार्योंने शास्त्रका लक्षण बताया है और स्वामी समन्तभद्रसे लेकर पं० टोडरमल्ल तक प्रायः सभी सुलेखकोंने शास्त्रकी परीक्षा की है तब यह बात स्पष्ट हो जाती है कि जैनधर्ममें परीक्षा अत्यन्त महत्वपूर्ण और आवश्यक स्थान रखती है।

जब भगवान महावीरके वचन अपने मूलरूपमें उपलब्ध न हों, अंग-पूर्व नष्ट हो गये हों, जैनधर्म ने हज़ारों वर्षों तक अनेक ऊंचे नीचे दिन देखे हों, परिस्थितियोंके प्रभावसे

अनेक दल हो गये हों, दलबन्दियोंके चक्करमें पडकर शास्त्र नामकी ओटमें अनेक लेखकोंने एक दूसरे पर कीचड उछाला हो, अनेक आचार्यों और टोडरमल्लजी सरीखे विख्यात ऐतिहासिक विद्वानोंको भी परीक्षाकी दुहाई देनी पड़ी हो उस समय शास्त्र-परीक्षाकी आवश्यकता कितनी अधिक हो जाती है इसके कहनेकी आवश्यकता नहीं है।

'सूर्यप्रकाश' कैसा ग्रंथ है और उसकी परीक्षा कैसी लिखी गई है इसकी आलोचना करनेकी यहां कोई आवश्यकता नहीं है। संक्षेपमें इतना ही कहा जा सकता है कि जाली ग्रंथोंमें जितनी धूर्तता और क्षुद्रता हो सकती है वह सब इसमें है, और उसकी परीक्षाके विषयमें तो मुख्तार साहिबका नाम ही काफ़ी है। यह खेद और लज्जाकी बात है कि सूर्यप्रकाश सरीखे भ्रष्ट ग्रन्थोंके प्रचारक ऐसे लोग हैं जिन्हें कि बहुतसे लोग भ्रमवश विद्वान और मुनि समझते हैं। परन्तु इसमें उन लोगोंका जितना अपराध है उतना या उससे कुछ अधिक अपराध जनताका भी है। स्वार्थी लोग अपनी स्वार्थसिद्धिकी कोशिश करें, धूर्त लोग धूर्तता दिखावें इसमें क्या आश्चर्य है? यह स्वाभाविक है। जनताको अपना बचाव स्वयं करना चाहिये—उसे सदा सतर्क रहना चाहिये। अपने उद्धारके लिये अपनेही विवेककी आवश्यकता है। आशा है इस परीक्षा-ग्रन्थको पढ़कर बहुतसे पाठकोंका विवेक जाग्रत होगा।

जुबिलीबाग, तारदेव, बम्बई
७—११—१९३३

दरबारीलाल न्यायतीर्थ
साहित्यरत्न

विषय-सूची

श्रीमान पं० जुगलकिशोरजी मुख्तार
सरसावा (सहारनपुर)।

थी—यद्यपि उसे अच्छी जाँच-पड़ताल-पूर्वक देनेके लिये मैंने बारबार विद्वानोंसे निवेदन भी किया था। इसीसे तत्कालीन 'जैनहितैषी' पत्रके सम्पादक प्रसिद्ध विद्वान पं० नाथूरामजी प्रेमीने, कोई चार वर्ष बाद सितम्बर १९१७ में मेरे कुछ परीक्षा-लेखोंको पुस्तकाकार छपाते हुए, लिखा था कि—

"इन लेखोंने जैन समाजको एक नवीन युगका सन्देशा सुनाया है, और अन्धश्रद्धाके अन्धेरेमें पड़े हुए लोगोंको चकचौंधा देने वाले प्रकाशसे जागृत कर दिया है। यद्यपि बाह्य दृष्टिसे अभी तक इन लेखोंका कोई स्थूल प्रभाव व्यक्त नहीं हुआ है तो भी विद्वानोंके अन्तरंगमें एक शब्दहीन हलचल बराबर हो रही है जो समयपर कोई अच्छा परिणाम लाये बिना नहीं रहेगी।"

प्रेमीजीकी उक्त भविष्यवाणी क्रमशः सत्य होती जाती है। इस विषयमें विद्वानोंका वह संकोच बराबर दूर हो रहा है और वे परीक्षाप्रधानता तथा स्पष्टवादिताको अपनाते जाते हैं। और इसीलिये आज संख्याबद्ध विद्वान तथा दूसरे प्रतिष्ठित सज्जन 'चर्चासागर' को लेकर ऐसे दूषित ग्रंथोंका विरोध करनेके लिये मैदानमें आगये हैं। यह सब उन परीक्षालेखोंसे होने वाली उस शब्दहीन हलचलका ही परिणाम है जिसे प्रेमीजीने उस वक्त अनुभव किया था। और इसीसे आज 'जैनजगत्' के सह-सम्पादक महाशय अपने २३ नवम्बरके पत्रमें लिख रहे हैं कि—

"'चर्चासागर' के सम्बन्धमें जैन समाजमें जो चर्चा चल रही है, उसमें प्रत्यक्षरूपसे यद्यपि आप भाग नहीं ले रहे हैं, किन्तु वास्तवमें इसका सारा श्रेय आपको है। यह सब आपके उस परिश्रमका फल है जो आजसे क़रीब १०-१२ वर्ष पहलेसे आप करते आ रहे हैं। जिस बातके कहनेके लिये उस समय आपको गालियां मिली थीं, वही आज स्थिति-पालक दलके स्तम्भों-द्वारा कही जा रही है!"

जिन्होंने मेरी ग्रंथ-परीक्षाओं तथा दूसरी विवेचनात्मक पुस्तकोंको पहले से नहीं देखा था उन विद्वानोंमें से एक प्रसिद्ध न्यायतीर्थ जी हाल में ग्रंथ परीक्षा के तृतीय भाग (सोमसेन त्रिवर्णाचार की परीक्षा) और "विवाह क्षेत्र प्रकाश" को पढ़कर, अपने १६ नवम्बर के पत्र में लिखते हैं कि—

"आपकी इन पुस्तकों को पढ़कर बड़ा ही आनन्द आता है। यह सब पुस्तकें विद्यार्थी जीवन में ही पढ़ लेना चाहिये थीं, मगर दुःख का विषय है कि उन पांजरापोलों या काँजी हाउसों (कानी भींतों) में विद्यार्थियों को ऐसे साहित्य का भान भी नहीं कराया जाताहै। मेरी प्रबल इच्छा है कि आपकी और प्रेमी जी की तमाम रचनाये पढ़जाऊँ। क्या आप नाम लिखने की कृपा करेंगे ?........ खेद है कि सामाजिक संस्थाओं में हम लोग इन ज्ञानव्यापक बनानेवाली पुस्तकों से बिलकुल अपरिचित रक्खे जाते हैं। इसी लिये विद्यार्थी ढब्बू निकलते हैं।"

इसी तरह पर दूसरे विद्वान भी, चर्चा के इस वातावरण में, अपने लेखादिकों के द्वारा उन ग्रन्थ परीक्षाओं का अभिनन्दन कर रहे हैं, तथा आर्य-समाज के साथ के शास्त्रार्थों तक में कुछ जैन पंडितों को यह घोषित कर देना पड़ा है कि हम इन त्रिवर्णाचार जैसे ग्रन्थों को प्रमाण नहीं मानते हैं। कुछ विद्वानों ने तो जिनमें दो न्यायतीर्थ भी शामिल हैं—चर्चा सागर की भी साङ्गोपाग परीक्षा कर देने की मुझे प्रेरणा की है और यह सब उन परीक्षा लेखों की सफलता को लिये हुए भावी का एक अच्छा शुभलक्षण जान पड़ता है। अतः मेरे लिये एक प्रकार से आनन्द का ही विषय है, और मुझे ग्रन्थ-परीक्षा का जो राजमार्ग खुला है उसपर बहुतों को चलते

तथा चलने के लिये उद्यत देखकर निःसन्देह प्रसन्नता होती है ।

परन्तु साथ ही यह देखकर आश्चर्य के साथ कुछ खेद भी होता है कि लोग इस चर्चा सागर के विरुद्ध जितना टूट कर पड़े है उसका शतांश भी वे उन त्रिवर्णाचार (धर्मरसिक) आदि ग्रन्थों का विरोध नहीं कर रहे हैं जिनके आधार पर इस ग्रन्थ में धर्म विरुद्ध तथा आपत्तिजनक विषयों को चर्चित किया गया और विधेय ठहराया गया है । क्या विषवृक्ष के मूल में कुठाराघात न करके उसे सींचते रहने और बनाये रखने पर यह आशा की जासकती है कि उसमें पत्र-पुष्पादि का प्रादुर्भाव नहीं होगा ? कदापि नहीं । जबतक इन दूषित मूलग्रन्थों का अस्तित्व अक्षुण्ण बना रहेगा अथवा उनकी भूमि पर अन्ध श्रद्धा का वृक्ष लहलहाता रहेगा, तबतक ऐसे असंख्य चर्चा-सागर रूपी पत्र पुष्पों की उत्पत्ति को कोई रोक नहीं सकता । इसमें वेचारे उन अन्धश्रद्धालुओं का विशेष अपराध भी क्या कहा जा सकता है जो उपलब्ध ग्रन्थों पर से कुछ विषयों की चर्चाओं का संग्रह करते हैं, जब कि उन ग्रन्थों के विषय में उनके भीतर यह रूह (स्पिरिट Spirit) फूंकी गई है कि वे सब जिनवाणी हैं और इसलिए उनपर संदेह करना अथवा उनके विरुद्ध विचार करना अधर्म तथा मिथ्यात्व है । यह सब अपराध ऐसी मिथ्या रूह (चेतना) फूंकने वाले ग्रन्थकर्ताओं तथा उनके प्रचारकों आदि का है, और कुछ उनका भी है जो यह जानते हुए भी कि ये ग्रन्थ विषमिश्रित हैं—धर्म-विरुद्ध कथनों से भरे हुए हैं—, उनके विषय में चुप्पी साधे हुएहैं, उनसे जनता को सावधान करने की हिम्मत नहीं रखते हैं अथवा उन पर “ विष (Poison) है ” ऐसा लेबिल लगाने में प्रमाद करते हैं । क्या जो लोग यह जानते हुए भी कि अमुक सिक्का, अथवा

नोट जाली है उसे चलने देते हैं वे दूसरों के ठगाये जाने में मदद नहीं करते हैं ? ज़रूर करते हैं और इसलिये अपराधी हैं।

यह ठीक है कि ग्रन्थकार पं० चम्पालाल जी ने अनेक स्थानों पर अर्थ का अनर्थ किया है, चालाकी से काम लिया है और कितनी ही विरुद्ध बातें अपनी तरफ़ से भी ऐसी जोड़ दी हैं जिनका कोई प्रमाण नहीं दिया गया, ऐसा ग्रन्थ पर से जान पड़ता है। परन्तु जो मुद्रित ग्रन्थ हमारे सामने है वह अपने मूल रूप में नहीं किन्तु भाषा के परिवर्तनादि को लिये हुए है। हो सकता है कि इसमें उन भाषापरिवर्तक तथा सम्पादक महाशयों की भी कुछ लीला शामिल हो गई हो, जिन्हें अपना नाम देने तक में संकोच हुआ है, जिनके नाम पीछे से पत्रों में कुछ रहस्य के साथ प्रकट हो रहे हैं † और जिन्होंने अपने कर्तव्य के पालन में यहां तक उपेक्षा तथा आनाकानी की है कि पबलिक को इतनी भी सूचना नहीं दी कि इस ग्रन्थ की भाषा परिवर्तित की गई है तथा इसके सब फुटनोट उनकी अपनी कृति हैं—ग्रन्थकर्ता की नहीं। और इसलिए उन्होंने पबलिक को एक प्रकार से धोखे में रक्खा है और यह सब उनके नैतिक बल की त्रुटि का अच्छा सूचक है तथा उनके विषय में काफ़ी संदेह पैदा करता है। ऐसी हालत में जबतक ग्रंथ की हस्तलिखित कापी अपने

---

† इसे ढूँढारी भाषा से हिन्दी में परिवर्तित करने वालों में पं० लालाराम जी का और इसके प्रधान संपादकों तथा प्रचारकों में उनके भाई पं० नन्दनलाल जी का नाम प्रकट हुआ है, जो उस समय ब्र० ज्ञानचन्द्र जी के रूप में थे और अब क्षुल्लक ज्ञानसागर जी के रूप में मुनिसंघ में उपस्थित हैं।

असली (अपरिवर्तित) रूप में सामने न हो अथवा उस पर से कोई निष्पक्ष विद्वान अपनी जाँच की रिपोर्ट प्रकट न करे तबतक पं० चम्पालाल जी पर किसी विषय का सीधा आरोप नहीं लगाया जा सकता है ।

हाँ, यदि यह मान लिया जाय और जाँच से साबित हो जाय—जिसकी अधिकाश में सम्भावना है—कि मात्र भाषा-परिवर्तन के सिवाय ग्रन्थ में दूसरा कोई खास गोलमाल नहीं हुआ है—फुटनोट बेशक सम्पादकादिक के लगाये हुए हैं—तो पं० चम्पालाल जी ने जितने अन्शों में जानबूझ कर अर्थ का अनर्थादि किया है, कुछ विरुद्ध तथा अनर्थकारी बातों को योंही अपनी तरफ़ से जोड़ा है अथवा किसी कषायवश दूषित साहित्य को इस तरह पर प्रचार देने का यत्न किया है, उतने अन्शों में वे इस विषय के विशेष अपराधी ज़रूर हैं । और तब यह उनकी अक्षम्य धृष्टता है जो वे इस ग्रन्थ के सब कथनों को **'भगवान अरहन्त की आज्ञानुसार'** बतलाते हैं और इसे **'जिनवाणी'** प्रतिपादित करते हैं ।

परन्तु यह सब कुछ होते हुए भी इतना तो स्पष्ट है कि 'चर्चासागर' नाम का जो मुद्रित ग्रन्थ हमारे सामने है उसमें 'त्रिवर्णाचार' तथा 'धर्म रसिक' नाम से बहुत से धर्मविरुद्ध कथन पाये जाते हैं और वे सब **'सोमसेन त्रिवर्णाचार'** में मौजूद हैं, जिसे 'धर्मरसिक' भी कहते हैं और जिसमें धर्म-विरुद्ध कथन बहुत कुछ कूट कूट कर भरे हुए हैं. जिनका बहुत कुछ पता ग्रंथ की उस विस्तृत परीक्षा से सहज ही में चल सकता है जो ग्रन्थ परीक्षा के तृतीय भाग में २६६ पृष्ठों में दर्ज है । इसी तरह **'उमास्वामि श्रावकाचार'** आदि दूसरे

जाली तथा अर्द्ध जाली ग्रंथोंके प्रमाणोंका हाल है। इन मिथ्यात्वपोषक तथा अन्धश्रद्धाके गढ़रूप मूल ग्रंथोंका पूर्णतया विरोध न करके उनकी कुछ चर्चाओंको संग्रह करनेवाले ग्रंथका विरोध करना क्या अर्थ रखता है, यह मेरी कुछ समझ में नहीं आता। और इसी लिये ऐसे एकांगी विरोध को देखते हुए मुझे कुछ आश्चर्य होता है।

'सोमसेन-त्रिवर्णाचार' के दो संस्करण हो चुके—एकमें वह मराठी टीकासहित प्रकाशित हुआ और दूसरेमें हिन्दी टीकासहित। जगह जगह मन्दिरोंमें उसकी कापियाँ पाई जाती हैं और उसे भी दूसरे ग्रंथोंके साथ नित्य अर्घ चढ़ाया जाता है। यह सब विष-वृक्षको सींचना और उसे बनाये रखना नहीं तो और क्या है ?

अतः चर्चासागरके विरोधमें लेखनी उठाने वालोंका यह पहला कर्तव्य होना चाहिये कि वे उन ग्रंथोंका खुला विरोध करें, जिनके आधार पर वस्तुतः धर्मविरुद्ध कथनों अथवा आपत्तिजनक विषयोंको ग्रन्थमें चर्चित और प्रतिपादित किया गया है। उनमेंसे जिन ग्रंथोंकी परीक्षाएं अभी तक नहीं हो पाई हैं * उनकी पूरी जांच तथा सांगोपांग परीक्षाका भी

---

* निम्नलिखित ग्रन्थोंकी विस्तृत परीक्षाएँ लेखक-द्वारा हो चुकी हैं और उन्हें 'जैनग्रंथ-रत्नाकर-कार्यालय, हीराबाग़, बम्बई' ने तीन भागोंमें प्रकाशित किया है, जो सब पढ़ने तथा ऐसे दूषित साहित्यके विरोधमें प्रचार करनेके योग्य हैं :—

१ उमास्वामी-श्रावकाचार, २ कुन्दकुन्द-श्रावकाचार, ३ जिनसेन-त्रिवर्णाचार, ४ भद्रबाहु-संहिता, ५ सोमसेन-त्रिवर्णाचार, ६ धर्मपरीक्षा (श्वेताम्बर)।

अपनी शक्तिभर पूरा यत्न करना और कराना चाहिये, जिससे सर्वसाधारण उनके स्वरूपादिसे भले प्रकार परिचित हो सकें और उनके विषयमें जिनवाणीत्वकी जो मिथ्या रूह उनके भीतर फूँकी हुई है वह निकल कर, उनकी श्रद्धाका सुधार हो सके।

मेरा विचार "चर्चासागर" जैसे ग्रंथोंके सम्बन्धमें भी प्रायः वही है, जिसे मैं अपनी ग्रंथ-परीक्षाओंमें आम तौर पर और "सोमसेन-त्रिवर्णाचार" की परीक्षाके अन्तमें ख़ास तौर पर प्रकट कर चुका हूँ। मैं ऐसे ग्रन्थोंको **जैनग्रन्थ नहीं, किन्तु जैनग्रन्थोंके कलंक** समझता हूँ। इनमें रत्नकरण्डश्रावकाचारादि जैसे कुछ आर्ष ग्रंथोंके वाक्योंका जो संग्रह किया गया है वह ग्रन्थकर्ताओंकी एक प्रकारकी चालाकी है, धोखा है, मुलम्मा है अथवा विरुद्ध कथनरूपी जाली सिक्कोंको चलाने आदिका एक साधन है। उन्होंने उनके सहारेसे अथवा उनकी ओटमें उन मुसलमानोंकी तरह अपना उल्लू सीधा करना चाहा है, जिन्होंने भारत पर आक्रमण करते समय गौओंके एक समूहको अपनी सेनाके आगे कर दिया था। और जिस प्रकार गोहत्याके भयसे हिन्दुओंने उन पर आक्रमण नहीं किया था उसी प्रकार शायद आर्षवाक्योंकी अवहेलनाका कुछ ख़याल करके उन जैन विद्वानोंने, जिनके परिचयमें ऐसे ग्रन्थ अब तक आते रहे हैं, उनका जैसा चाहिये वैसा विरोध नहीं किया है। परन्तु आर्ष वाक्य और आर्ष वाक्योंके अनुकूल कहे गये दूसरे प्रतिष्ठित विद्वानोंके वाक्य अपने अपने स्थान पर माननीय तथा पूजनीय हैं, धूर्त लोगोंने उन्हें जैनधर्म, जैनसिद्धान्त, जैननीति तथा जैन-शिष्टाचार आदिसे विरोध रखने वाले और जैनआदर्शसे गिरे हुए कथनों-

के साथ में गूंथ कर अथवा मिला कर उनका दुरुपयोग किया है, और इस तरह पर ऐसे समूचे ग्रन्थों को विषमिश्रित भोजन के समान बना दिया है, जो त्याग किये जाने के योग्य होता है। विषमिश्रित भोजन का विरोध जिस प्रकार भोजन का विरोध नहीं कहलाता उसी तरह पर ऐसे ग्रन्थों के विरोध को भी आर्षवाक्यों अथवा जैन शास्त्रों का विरोध या उनकी कोई अवहेलना नहीं कहा जा सकता। अतः विद्वानों तथा दूसरे विवेकी जनों को ऐसे ग्रन्थों के विरुद्ध अपना विचार प्रकट करने में ज़रा भी संकोच न होना चाहिये, संकोच से उन्हें ऐसे ग्रन्थों द्वारा होने वाले अनर्थ का भागी होना पड़ेगा। अस्तु।

अब मैं पाठकों तथा समाज का ध्यान एक दूसरी ओर आकर्षित करना चाहता हूं और वह है "चर्चासागर का बड़ा भाई"। मुनि शान्तिसागर जी के संघ की असीम कृपा से जहां हमें 'चर्चासागर' जैसे ग्रन्थरत्न की प्राप्ति हुई है वहां प्रसाद रूप में एक दूसरा अपूर्व ग्रंथ और भी मिला है, जिसका नाम है 'सूर्य प्रकाश'। दोनों का उद्गम स्थान एक ही संघ और दोनों के निर्माण तथा प्रकाशनादि में एक ही मुख्य स्पिरिट (मनोवृत्ति) अथवा उद्देश्य के होने से इन्हें भाई भाई कहना तो सार्थक है ही, परन्तु 'सूर्य प्रकाश' को चर्चासागर का बड़ा भाई कहना तो और भी सकारण है। क्योंकि—

(१) एक तो यह (सूर्य प्रकाश) चर्चासागर से कोई डेढ़ वर्ष बड़ा है—इसका जन्म जब विक्रम सम्वत् १९०९ के श्रावण मास में हुआ है तब चर्चासागर ने वि० सं० १९१० के माघ मास में अवतार लिया है।

यहाँ पर किसी को यह आशंका नहीं करनी चाहिये कि

चर्चासागर में तो उसका निर्माणकाल वि० सं० १८१० दिया हुआ है। यह सब अपना नाम गुप्त रखने वाले यार लोगों की चालाकी है। उन्होंने ग्रन्थको वृद्धता का कुछ मान देने के लिये उसकी आयु में एक दम १०० वर्ष की वृद्धि करदी है! अन्यथा, ग्रंथ में संवत् जिन 'दिग हरि चन्द्र' शब्दों में दिया हुआ है उन का स्पष्ट अर्थ १९१० होता है; फुट नोट लगाने वालों ने दिग, हरि और चन्द्र पर क्रमशः नं० ६, ७, ८ डालकर फुटनोट में उनका अर्थ देते हुए 'दिशाएं दश हैं', 'चन्द्र एक को कहते हैं', इतना तो लिखा है परन्तु हरि—नारायण ८ होते हैं या ९ ऐसा कुछ लिखा नहीं—'हरि' शब्द का अर्थ बिलकुल ही छोड़ दिया है, और वैसे ही गोलमाल करते हुए लिख दिया है कि—

"इन सब के मिलाने से तथा अङ्कानां वामो गतिः अर्थात् अङ्कों की गति बाँई ओर को होती है इस न्याय से १८१० है। अर्थात् विक्रम सम्वत् १८१० में यह ग्रन्थ बना।"

यह चालाकी नहीं तो और क्या है? ग्रंथ में तो २२९ वीं चर्चा के अन्तर्गत, पृ० ४५७ पर, भीष्म पन्थ की उत्पत्ति का वर्णन करते हुए, उसका स्पष्ट सम्वत् "अठारहसौ तेईस को साल" तक दिया हुआ है, तब यह ग्रंथ १८१० में कैसे बन सकता है, इसे पाठक स्वतः समझ सकते हैं।

और 'सूर्य प्रकाश' में तो इस विषय की चालाकी और भी बढ़ी चढ़ी है। उसमें अनुवादक—सम्पादक ब्र० ज्ञानचन्द्र जी महाराज (वर्तमान क्षुल्लक ज्ञानसागर जी) ने निर्माणकाल विषयक श्लोक का अर्थ ही नहीं दिया, जब कि उसी प्रकार के बीसियों संख्यावाचक श्लोकों का ग्रन्थ में अर्थ दिया गया है। और मज़ा यह है कि अर्थ न देने का कोई कारण भी नहीं बतलाया और न उसके छोड़ने की कोई सूचना ही की गई है!

लाचार ग्रंथ-प्रकाशक सेठ रावजी सखाराम दोशी से उनके भूमिकात्मक दो शब्दोंमें यह कहलाया गया है कि—"अन्तमें जो निर्माणकाल बताया है उसका अर्थ अस्पष्ट है। इसलिये पाठक उसको ध्यानसे पढ़ें और मनन करें।" परन्तु अर्थ तो कुछ दिया ही नहीं गया जिसके विषयमें अस्पष्टताको प्रकाशक महाशय खुद कुछ कल्पना करते! और श्लोकका पाठ कुछ अस्पष्ट है नहीं, वह तो अपने स्पष्ट रूपमें इस प्रकार है—

अंकाभ्रनंदेंदु प्रमे हि चाब्दे मित्राद्रि-शैलेन्दु-सुशाकयुक्ते।
मासे नभाख्ये शुभनंदघस्रे विरोचनस्यैव सुवारके हि॥

और इस श्लोक परसे स्पष्ट जाना जाता है कि यह ग्रंथ 'वि० सं० १९०९ तथा शक सं० १७७४ के श्रावण मासमें शुक्ल नवमीके दिन रविवारको' बनकर समाप्त हुआ है। अगले दो श्लोकोंमें, जिनका अर्थ निरंकुशता-पूर्वक कुछ घटा बढ़ाकर ❀ दिया गया है, ग्रन्थके द्रोणीपुरके पार्श्वनाथ-जिनालयमें समाप्त होनेकी सूचना समय, नक्षत्र और योगके नामोल्लेख-पूर्वक की गई है, साथ ही कुछ आशीर्वाद भी दिया गया है।

इस सारी स्थिति परसे ऐसा मालूम होता है कि उक्त श्लोकका अर्थ न देनेमें अनुवादकादिकका यह खास आशय रहा है कि सर्वसाधारण पर यह बात प्रकट न होने पाए कि ग्रन्थ इतना अधिक आधुनिक है—अर्थात् इस बीसवीं शताब्दी-का ही बना हुआ है!

(२) दूसरे, छपकर प्रकाशित भी यह ग्रंथ चर्चासागर-

❀ यह निरंकुशता अनुवादमें सर्वत्र पाई जाती है।

से एक वर्ष एक महीना पहले हुआ है—यह अगस्त १९२९ में मुद्रित और प्रकाशित है तो वह सितम्बर १९३० में।

(३) तीसरे, नाम-माहात्म्यकी दृष्टिसे भी सूर्यप्रकाश बड़ा है जो सागरके भी ऊपर रहता है, अनेक सागरोंको प्रकाशित करता है और जिसके बिना सब कुछ अन्धकार-मय है।

(४) चौथे, इसकी मूल रचना गीर्वाणभाषा संस्कृतमें हुई है जो कि सब आर्यभाषाओंमें बड़ी है, जब कि चर्चासागर आधुनिक हिन्दी भाषाका ग्रन्थ है। उसमें संस्कृतादिके वाक्योंको इधर-उधरसे उधार लेकर रक्खा गया है। प्रकाशक महाशयने इसके कुछ अशुद्ध प्रयोगोंको प्रचलित संस्कृत व्याकरण तथा कोष-सम्मत न देख कर जो उसे 'अपभ्रंश' भाषाका ग्रंथ मान लेनेकी सलाह दी है, वह निरर्थक है। जान पड़ता है वे अपभ्रंश भाषाके स्वरूपसे बिलकुल ही अनभिज्ञ हैं। अच्छा होता यदि वे उनके विषयमें आर्ष प्रयोगोंकी कल्पना कर डालते और इस तरह पर ग्रंथकारकी त्रुटियोंको महत्वका रूप दे देते।

(५) पाँचवे, 'सूर्यप्रकाश' पर आचार्य शांतिसागरजीकी प्रशंसाकी मुहर लगी हुई है, जिससे प्रेरित होकर ही द्रव्य-दाताओंने (गांधी नेमचन्द मियाचन्द आदि तीन भाइयोंने) उसके उद्धारके लिये धन खर्च किया है; जब कि 'चर्चासागर' पर वैसी कोई मुहर नहीं है। हाँ बाद को "जैनजगत्" में प्रकाशित सेठ गंभीरमल जी पांड्याके वक्तव्यसे मालूम हुआ कि उनसे उसकी प्रशंसा करने वाले और उसे 'महान् उपयोगी' बतलाने वाले ब्र० ज्ञानचन्द्रजी तथा क्षुल्लक चन्द्रसागरजी थे। उन्हींकी प्रेरणा तथा उपदेशसे उन्होंने उसके प्रकाशनार्थ द्रव्य दान किया था, और ये दोनों ही शांतिसागरजीके शिष्य हैं। अतः शिष्य-प्रशंसितकी अपेक्षा गुरु-प्रशंसितको स्वभावतः ही

बड़प्पन की प्राप्ति है। शायद इसीसे उक्त ब्र० ज्ञानचन्द्रजीने, जो ग्रन्थके अनुवादक भी हैं, सम्पादकके तौर पर ग्रंथ पर अपना नाम देना गौरव की वस्तु समझा है ! जबकि 'चर्चासागर' का संपादन करने पर भी उन्हें उसपर अपना नाम किसी रूप में भी देने में संकोच हुआ है !!

(६) छठे, 'चर्चासागर' की कोई क़ीमत नहीं है, वह यों ही मुफ़्त बँटता फिरता है । जबकि 'सूर्यप्रकाश' पर सेठों-द्वारा द्रव्यकी सहायता प्राप्त होने पर भी २) रु० क़ीमत दर्ज है और इसलिये दो रुपये उसकी भेंट करने पड़ते हैं, जो संभवतः उसकी बड़ाईका ही चिन्ह है !

(७) सातवे, 'सूर्यप्रकाश' में सबसे अधिक बड़प्पनकी बात यह है कि वह 'चर्चासागर' की अपेक्षा अधिक तथा गहरे प्रपंचको लिये हुए है । उसमें सबकुछ अपना इष्ट जैसे तैसे भविष्य-वर्णनके रूप में भगवान महावीरके मुखसे कहलाया गया है—श्वेताम्बरों, ढूँढियों, तेरह पंथियों और सुधारकों आदि को भरपेट गालियाँ भी उन्हीं के श्रीमुखसे दिलाई हैं ! और इसलिये वह सोलहों आने जिनवाणी है ! खुद ग्रन्थकारने उसका विशेषण भी 'जिनवक्त्रज' अर्थात् जिनमुखोत्पन्न दिया है ! जबकि 'चर्चासागर' के विधाताने इधर उधरकी नई पुरानी चर्चाएँ करते हुए जो कुछ बुरा भला कहा है वह सब अपने शब्दोंमें कहा है और उसके प्रमाणमें यथासंभव दूसरे ग्रन्थोंके वाक्योंको उद्धृत किया है जो जैनाचार्यों, भट्टारकों, जैनपंडितों तथा धूर्तों और अजैन विद्वानों तकके बनाये हुए हैं । इसीलिये चर्चासागरको पूरे तौर पर जिनवाणीका दर्जा प्राप्त नहीं है ।

इस तरह पर 'सूर्यप्रकाश' को मैंने चर्चासागरका बड़ा भाई निश्चित किया है । इसका दर्शन-सौभाग्य मुझे हालमें

ही प्राप्त हुआ है। बम्बईसे सुहृद्वर पंडित नाथूरामजी प्रेमी ने इसे रजिस्ट्री करा कर मेरे पास भेज दिया है और साथ ही यह अनुरोध किया है कि मैं इसकी परीक्षा-पूर्वक कुछ विशेष आलोचना करदूँ, जिससे इसके द्वारा जो अनर्थ फैलाया जा रहा है वह रोका जा सके। आते ही दो तीन दिन के भीतर मैंने इस ४१२ पृष्ठके सानुवाद मोटे ग्रन्थपर सरसरी तौर पर एक नज़र डाली और उस परसे यह ग्रन्थ मुझे बहुत कुछ निःसार, अनुदार, प्रपञ्ची तथा असंबद्धप्रलापी जान पड़ा। साथही, यह भी जानपड़ा कि अनुवादक महाशयने इच्छानुकूल उलटा-सीधा तथा अपभ्रंशमय अर्थ कर ग्रन्थके इन गुणोंको और भी बढ़ा दिया है और उसके विषयमें 'एकतो करेला दूसरे नीमचढ़ा' की कहावत को चरितार्थ किया है! और इसलिये मैंने इस ग्रंथकी विशेष आलोचनाका निश्चय किया।

यह 'सूर्यप्रकाश' पं० नेमिचन्द्रका बनाया हुआ है। ग्रन्थके अन्तमें उनकी एक प्रशस्ति भी लगी हुई है, जिससे मालूम होता है कि चम्पावतीपुरमें स्वर्णकीर्ति नामके कोई सूरि (भट्टारक) थे, उनके शिष्य राजमल्ल, राजमल्ल के शिष्य फ़तेचन्द्र, फ़तेचन्द्रके शिष्य वृन्दावन, वृन्दावनके शिष्य सीताराम और सीतारामके शिष्य शिवजीराम हुए, जो पहले कुछ वर्ष चम्पावतीपुरमें रहे, फिर तक्षपुरमें रहने लगे और अन्तको वहाँसे भी चलकर द्रोणी (दूनी) पुरमें आ बसे। इन्हीं पं० शिवजीरामके ग्रन्थकार महाशय शिष्य थे।

ये सब शिष्य—प्रशिष्यजन और पं० चम्पालाल जी प्रायः उसी समय की पौध हैं जबकि भट्टारकीय लीलाओं के विरोध रूप दिगम्बर तेरहपंथ अच्छी तरह से उत्पन्न हो चुका था, अपना विस्तार कर रहा था और भट्टारकानुयायिओं तथा तेरहपंथियों में द्वन्द्व युद्ध चल रहा था। चर्चासागर और सूर्य प्रकाश दोनों उसी समय की स्पिरिट (मनोवृत्ति) को लिये हुए हैं और उसी युद्ध का परिणाम हैं। उस वक्त इस प्रकार का कितना ही साहित्य निर्माण हुआ जान पड़ता है, परन्तु तेरहपंथी विद्वानों के प्रबल युक्तिवाद और प्रभाव के सामने उस का अधिक प्रचार नहीं हो सका था। किन्तु दुःख तथा खेद का विषय है कि आज कुछ पंडित लोग, सभवतः अपने पूर्व जन्मों के संस्कारवश, उसी मिथ्यात्वपोषक भ्रष्ट साहित्य को प्रचार देने के लिये उतारू हुए हैं और इस के लिये उन्होंने नग्न भट्टारकीय मार्ग का नया अवलम्बन लिया है; क्योंकि पुराने सवस्त्र भट्टारकीय मार्ग की असफलता का उन्हें अनुभव हो चुका है। अन्यथा, सोमसेन-त्रिवर्णाचार जैसे ग्रन्थों पर अटल विश्वास रखने के कारण वे अन्तरंग में मुनियों के सर्वथा नग्न रहने के पक्षपाती नहीं हो सकते। मुनि वस्त्र भी रक्खें और नग्न भी कहलाएं, इसीलिये तो भट्टारक सोमसेन जी ने, जो अपने को 'मुनि' तथा 'मुनीन्द्र' तक लिखते हैं, नग्न की विचित्र परिभाषा कर डाली है! और अपने त्रिवर्णाचार के तृतीय अध्याय की निम्न पंक्तियों में दस प्रकार के नग्न बतला दिये हैं:—

अपवित्रपटो नग्नो नग्नश्चार्द्ध पटः स्मृतः।
नग्नश्च मलिनोद्वासी नग्नः कौपीनवानपि ॥२१॥
कषाय वाससा नग्नो नग्नश्चानुत्तरीयमान्।
अन्तः कच्छोवहिः कच्छोमुक्तकच्छस्तथैवच ॥२२॥
साक्षान्नग्नः स विज्ञेयो दश नग्नाः प्रकीर्तिताः।

अर्थात्—जो लोग अपवित्र वस्त्र पहने हुए हों, आधा वस्त्र पहने हों, मैले कुवैले वस्त्र पहने हुए हों, लंगोटी लगाये हुए हों, भगवे वस्त्र पहने हुए हों, महज़ धोती पहने हुए हों, भीतर कच्छ लगाये हुए हों, बाहर कच्छ लगाये हुए हों, कच्छ बिलकुल न लगाये हुए हों और वस्त्र से बिलकुल रहित हों, उन सबको नग्न ठहराया है!

जब महात्मा गाँधीजी ने मुनियों को लंगोटी लगाने की बात कही थी तब इन त्रिवर्णाचारी पंडितों ने भी उसका विरोध किया था और उसे देखकर मुझे आश्चर्य हुआ था। मैं सोचता था कि दूसरे लोग नग्नता में बाधा आती हुई देख कर उसका विरोध करें सो तो ठीक, किन्तु ये त्रिवर्णाचारी पंडित किस आधार पर विरोध करने के लिये उद्यत हुए हैं, जबकि इनके मतानुसार—इनके मान्य आगम त्रिवर्णाचार के अनुसार—लंगोटी तो लंगोटी पूरे वस्त्र पहनने पर भी नग्नता भंग नहीं होती। परन्तु उसी समय मैंने समझ लिया था कि यह सब इन लोगों की गहरी चालें है, ये योंही अपने विचारों की बलि देकर इन मुनियों के पीछे नहीं लगे हैं, इनके हाथों नग्न भट्टारकीय मार्ग को प्रतिष्ठित कराके उसके द्वारा अपना गहरा उल्लू सीधा करना चाहते हैं, और वही हो रहा है। जनता प्रायः मूर्ख है, मुनियों के बाह्य रूप को देखकर उसपर लट्टू है और मुनि-मोह में पागल बनी हुई है। उसे सूझ नहीं पड़ता कि इन मुनियों में कितना ज्ञान है, कितना वैराग्य है—कितना अकषायभाव है और इनकी परिणति तथा प्रवृत्ति कहाँ तक जैनागम के अनुकूल है! और न उसे यही खबर है कि ये मुनि सामाजिक राग-द्वेषों में कितना भाग ले रहे हैं, और आचार्य होकर भी शान्ति सागर जी

इन क्षुल्लकादि वेषधारी पंडितोंके हाथकी कैसी कठपुतली बने हुए हैं ! इसीसे वह ठगाई जाती है, धोखा खा रही है और अपनी द्रव्यादि शक्तियोंका कितना ही दुरुपयोग कर रही है, जिसका एक ताज़ा उदाहरण सेठ गंभीरमलजी पाँड्याका पश्चात्ताप पूर्वक यह प्रकट करना है कि उन्होंने चर्चासागरके प्रकाशनार्थ द्रव्यकी सहायता देनेमें धोखा खाया है ! और यह सब जैन समाजके दुर्भाग्यकी बात है।

अतः जिन लोगोंके हृदयमें धर्मकी कुछ चोट है और समाजका कुछ दर्द है उन्हें समय रहते शीघ्र सावधान हो जाना चाहिये और जनता को सचेत करते हुए इस नग्न भट्टारकीय पर्देकी ओटमें अनर्थोंको बढ़ने देना नहीं चाहिये। साथ ही अपने धर्म, अपने साहित्य और अपने पूर्व महर्षियोंकी (प्राचीन आचार्योंकी) कीर्तिकी रक्षाका और उसे विकृत तथा मलिन न होने देनेका पूरा ध्यान रखना चाहिये। यही इस समयका उनका ख़ास कर्तव्य है। और नहीं तो फिर यह देख कर अधिकाधिक पछताना ही पड़ेगा कि—

"पंडितैर्भ्रष्टचारित्रैर्वठरैश्च तपोधनैः।
शासनं जिनचन्द्रस्य निर्मलं मलिनीकृतम् ॥"

'भ्रष्टचारित्र पंडितों और वठर साधुओं (मूर्ख तथा धूर्त मुनियों) ने, जिनेन्द्रचन्द्रके निर्मल शासनको—पवित्र जैनधर्मको—मलिन कर दिया है !'

यही सब सोच-विचार कर समाज-हितकी दृष्टिसे मैं इस ग्रंथकी विशेष जाँच, आलोचना एवं परीक्षामें प्रवृत्त हुआ हूँ। इस कार्यके लिये मुझे ग्रंथकी पुरानी हस्तलिखित प्रतिकी भी आवश्यकता थी, जिसके लिये सूचना निकाली गई और कुछ पत्रव्यवहार भी किया गया; परन्तु खेद है कि किसी भी

भाईने उसके भेजने या भिजवानेकी कृपा नहीं की !—सत्यकी जाँच, खोज, परीक्षा और निर्णय जैसे कार्योंमें समाजके सहयोगकी यह हालत निःसन्देह शोचनीय है ! हाँ, एक मित्रके द्वारा मुझे इतना पता ज़रूर चला है कि जिस हस्तलिखित प्रति परसे यह ग्रन्थ अनुवादित और सम्पादित होकर प्रकाशित हुआ है वह झालरापाटनके सरस्वती भवनकी प्रति है, और इसलिये मैंने उसकी प्राप्तिके वास्ते सेठ विनोदीराम बालचन्द जीकी फ़र्मके मालिक सेठ नेमिचन्दजी बी० सेठीको लिखा, जिसके उत्तरमें उन्होंने अपने ३० दिसम्बर सन् १९३१ के पत्र-द्वारा यह सूचित किया है कि—

"'सूर्यप्रकाश' की हस्तलिखित प्रति ब्र० ज्ञानसागर जी ले गये थे, तबसे वह यहां नहीं आई,.........जिसके लिये लिखा पढ़ी चल रही है। सो हस्तलिखित प्रति यहाँ पर है नहीं; अगर होती तो आपको अवश्य भिजवा दी जाती"।

सूर्यप्रकाशको छपकर प्रकाशित हुए कई वर्ष हो चुके हैं, काम हो जानेके बाद इतने अर्से तक भी ज्ञानसागर जी जैसे क्षुल्लक व्यक्तियोंका उस ग्रन्थप्रतिको वापिस न करना और अपने पास रोके रखना ज़रूर दालमें कुछ काला होनेके सन्देहको पुष्ट करता है। संभव है कि मूलमें भी उनके द्वारा कुछ गोलमाल किया गया हो। अस्तु; पुरानी हस्तलिखित प्रतिके अभावमें मुद्रित प्रति परसे ही ग्रन्थके विशेष आलोचनामय परीक्षा-कार्यको प्रारम्भ किया जाता है।

ग्रन्थ-नाम

ग्रन्थका नाम 'सूर्यप्रकाश' सामने आते ही और उसके पूर्वमें धर्म, कर्म, जैन, मिथ्यान्धकार या महावीर जैसा कोई विशेषणपद न देखकर आम तौर पर यह ख़याल

होने लगता है कि इस ग्रन्थमें सूर्यके प्रकाशका विवेचन होगा अथवा सूर्य क्या वस्तु है, उसका उदय-अस्त तथा गति-स्थिति आदि किस प्रकार होती हैं और उनका क्या परिणाम निकलता है, इत्यादि ज्योतिःशास्त्र सम्बन्धी बातोंका वर्णन होगा। परन्तु यह सब कुछ भी नहीं है। ग्रंथमें भगवान् महावीरके मुखसे भावी मनुष्योंके आचार-विचार, उनकी प्रवृत्ति, कतिपय धर्मोंके प्रादुर्भाव और कुछ घटनाओं आदिका वर्णन यद्वा-तद्वा भविष्य-कथनके रूपमें कराया गया है, और इसलिये ग्रंथके विषयको देखते हुए ग्रन्थका यह नाम कुछ बड़ा ही विचित्र जान पड़ता है और उस परसे ग्रंथके यों ही कल्पित किये जाने की थोड़ी सी प्राथमिक सूचना मिलती है। साथ ही, यह भी मालूम होता है कि ग्रन्थकार कोई विशेष बुद्धिमान अथवा समझ-बूझका आदमी नहीं था। उसके कथनानुसार यह ग्रन्थ प्रायः 'अनागतप्रकाश' नामक किसी ग्रंथके आधार पर रचा गया है—जो संभवतः ग्रंथकार महाशयकी कल्पनामें ही स्थित जान पड़ता है—और इसलिये इसका नाम यदि 'भविष्य-प्रकाश' जैसा कुछ होता तो विषयके साथ भी उसका कुछ मेल मिल जाता, किन्तु ऐसा नहीं है। विषयके साथ नामका सामंजस्य स्थापित करनेको ग्रंथकारको कोई समझ ही नहीं पड़ी और इसीसे उसका यह नामकरण बहुत कुछ निरंकुशता तथा बेढंगेपनको लिये हुए जान पड़ता है। अस्तु।

ग्रन्थका जालीपन

अब मैं सबसे पहले पाठकोंके सामने कुछ ऐसे प्रमाण उपस्थित करता हूँ जिनसे साफ़ तौर पर इस ग्रंथका जालीपन पाया जाता है—

१ ग्रन्थावतारकी विचित्र कल्पना !

ग्रंथके अन्तमें ग्रन्थावतारकी कथा देते हुए लिखा है कि—गिरनारपर्वतकी गुहामें धरसेन नाम के एक योगीन्द्र रहते थे। उन्होंने यह सोचकर कि संपूर्ण अंगों तथा पूर्वोंका ज्ञान लोप हो चुका है और बिना शास्त्रके लोग धर्मके मार्गको नहीं जान सकेंगे, *जयधवल, महाधवल* और *विजयधवल* नामके तीन शास्त्रोंकी रचना की, जिनकी श्लोक संख्या क्रमशः ७० हज़ार, ४० हज़ार और ६० हज़ार हुई। रचनाके बाद उन्हें पत्रों (ताड़पत्रों) पर लिखा गया और ज्येष्ठ शुक्ला पंचमीके दिन चतुर्विधसंघके साथ उनको पूजा की गई। इसके बाद धरसेनजी का स्वर्गवास हो गया और उनके शिष्य भूतबलि आदिक उन तीनों ग्रंथोंके पाठी हुए। उनके भी स्वर्गवास पर कालक्रमसे नेमिचन्द्र मुनीन्द्र (सिद्धान्त चक्रवर्ती) उन तीनों ग्रन्थोंके पारगामी हुए और उन्होंने *महाधवल* ग्रंथके आधार पर तीन ग्रन्थोंकी रचना की, जिनके नाम हैं (१) *अनागतप्रकाश* (२) *तत्वप्रकाश* (३) *धर्मप्रकाश*। अनागतप्रकाशको 'सर्व-क्रियादिकथक' तथा 'मतान्तरविघातक' लिखा है और इसी ग्रंथके अनुसार 'सूर्यप्रकाश' नामका यह ग्रंथ रचा गया है, ऐसी ग्रंथकारने सूचना की है। और इस तरह पर महाधवल ग्रंथ तथा धरसेनाचार्यको इस ग्रंथका मूलाधार बतलाकर इसे महा प्रामाणिक प्रसिद्ध करनेकी चेष्टा की गई है।

परन्तु यह सब कोरी कल्पना और जाल है—वास्तविकतासे इसका कोई सम्बन्ध नहीं है। क्योंकि प्रथम तो यह बात किसी भी प्रमाणसे सिद्ध नहीं है कि श्रीधरसेनाचार्यने जयधवलादि नामके तीन ग्रंथोंकी रचना की, उन्हें पत्रों पर

लिखाया और ज्येष्ठ शुक्ला पंचमीको उनकी प्रतिष्ठा की— वस्तुतः उन्होंने खुद ऐसा कोई ग्रंथ ही नहीं बनाया। दूसरे, जयधवलादि ये मूल ग्रन्थोंके नाम नहीं, किन्तु टीकाग्रन्थोंके नाम हैं। टीकाओंका ही इतने श्लोक-परिमाण विस्तार है और वे मूल ग्रंथोंसे बहुत कुछ बादकी—शताब्दियों पीछेकी—कृतियाँ हैं। जिसे यहाँ 'जयधवल' नाम दिया गया है वह वस्तुतः भूतबलि-पुष्पदन्ताचार्य-द्वारा महाकर्मप्रकृति प्राभृतसे उद्धृत 'षट्खण्डागम' ग्रंथकी वीरसेनाचार्यकृत 'धवला' नामकी टीका अथवा 'धवल' नामका भाष्य है—जिससे युक्त सिद्धान्त ग्रंथको 'धवलसिद्धान्त' कहते हैं—और उसकी रचना शक सम्वत् ७३८ (वि० सम्वत् ८७३) में हुई है। ग्रन्थमें अन्यत्र धरसेन-यतीन्द्रेण रचिता धवलादयः" इस वाक्यके द्वारा प्रथमोल्लेखित ग्रन्थका नाम 'धवल' दिया भी है। इसी तरह 'विजयधवल' जिसका नाम दिया गया है वह गुणधर आचार्य विरचित 'कषायप्राभृत' ग्रन्थकी 'जयधवला' नाम की टीका अथवा 'जयधवल' नाम का भाष्य है, जिसके २० हजार श्लोक जितने आद्य अंशको वीरसेनने, और शेषको उनके शिष्य जिनसेनने शक सं० ७५९ (सं० ८९४) में रचा है। और ये सब बातें इन ग्रन्थों परसे ही जानी जाती हैं। ये दोनों ग्रन्थ मूडबिद्री* की कालकोठरीसे निकल कर उत्तर भारत में भी आगये हैं और इसलिये इनके विषयमें अब कोई ग़लतफ़हमी नहीं फैलाई जा सकती। इन्द्रनन्दिके 'श्रुतावतार' से भी इन

* 'सूर्यप्रकाश' में इन ग्रंथोंके अस्तित्व स्थान इस नगरको 'जैनपुर' नामसे उल्लेखित किया है और अनुवादकने उसका अर्थ 'मूडबिद्री' ही दिया है।

बातोंका समर्थन होता है और उसमें यह भी लिखा है कि सबसे पहले भूतबलि आचार्यने 'षट्खण्डागम' को पुस्तकारूढ़ (लिपिबद्ध) कराकर ज्येष्ठ शुक्ला पंचमीको उसकी पूजा-प्रतिष्ठा की थी—धरसेनाचार्य का इस पूजा-प्रतिष्ठादिसे कोई सम्बन्ध नहीं है। रही 'महाधवल' ग्रंथकी बात, वह भी धरसेनाचार्यकी कोई कृति नहीं है, किन्तु षट्खण्डागम के 'महाबन्ध' नामक छठे खण्डका या अधिक स्पष्ट रूपमें कहा जाय तो महाबन्धके संक्षेपभूत 'सत्कर्म' नामक ग्रन्थ का कोई भाष्य है, जो 'महाधवल' नामसे प्रसिद्धिको प्राप्त हुआ है। उक्त श्रुतावतारमें इस नामसे उसका कोई उल्लेख नहीं है और मूडबिद्रीके पं० लोकनाथजी शास्त्रीने हालमें उसका जो परिचय ३१ दिसम्बर सन् १९३१ के जैनमित्र अङ्क नं० ७ में प्रकाशित कराया है उससे भी इस नामकी कोई स्पष्ट उपलब्धि नहीं होती †। हाँ, ब्रह्म हेमचन्द्रके 'श्रुतस्कंध' से इस ४० हज़ारकी संख्या वाले ग्रंथका नाम 'महाबन्ध' ज़रूर जान पड़ता है—

सत्तरिसहस्सधवलो जयधवलो सट्ठिसहसबोधव्वो।
महबंधो चालीसह सिद्धंततयं अहं वंदे ॥ ८८ ॥

और शास्त्री जीके उक्त परिचयसे भी यह ग्रंथ साफ़ तौर पर बन्ध-विषयक मालूम होता है; क्योंकि इसमें प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश ऐसे चार प्रकारके बन्धोंका ही

---

† इस विषयमें विशेषरूपसे दर्यापत करने पर और यह पूछने पर कि ग्रन्थसाहित्यके किस अंशपरसे उन्हें इस नामकी उपलब्धि हुई है, शास्त्रीजी अपने १७ जुलाई सन् १९३२ के पत्रमें लिखते हैं— "उक्त सिद्धांत ग्रन्थके किसी अध्यायके अन्तमे 'महाधवल' नाम नहीं लिखा गया किन्तु केवल ग्रन्थारंभके प्रथम पृष्ठ में 'महाधवल' ऐसा नाम है। अतएव (उस ग्रंथके इस नाम सम्बन्धी) विषयमें मुझे भी संदेह है"।

चार अध्यायोंमें विस्तारके साथ वर्णन किया है। साथ ही, यह भी मालूम होता है कि कोई विवरण (भाष्य) ग्रन्थ है—इसमें पंचिका रूपसे मूल 'सत्कर्म' विषयका विवरण दिया है, जैसाकि इस ग्रन्थके निम्न प्रतिज्ञावाक्यसे प्रकट है:—

वुच्छामि सत्तकम्मे पंचियरूवेण विवरणं सुमहत्थं ॥

और इसलिये महाधवलको महाबन्धके संक्षेपभूत उस 'सत्कर्म'* ग्रन्थका भाष्य समझना चाहिये जो कि 'श्रुतावतार'

---

* पं० लोकनाथ जी शास्त्रीने अपने ग्रन्थ-परिचयमें भाष्यके उक्त प्रतिज्ञावाक्यमे प्रयुक्त हुए 'सत्तकम्मे' पदके 'सत्त' शब्दका अर्थ 'सप्त' दिया है, जो ठीक मालूम नहीं होता; क्योंकि इन्द्रनन्दि-श्रुतावतारके "सत्कर्मनामधेयं षष्ठं खण्डं विधाय संक्षिप्य" इस वाक्यसे यह स्पष्ट जाना जाता है कि छठे खण्डके सक्षेपभूत ग्रंथका नाम 'सत्कर्म' है और वही 'सत्तकम्मे' पदके द्वारा यहां विवक्षित है। प्राकृत भाषामें 'सत्त' शब्द केवल 'सप्त' के अर्थमें ही प्रयुक्त नहीं होता किन्तु सत्य (सत्), शक्त, शप्त, सक्त, सत्र, गत और सत्व अर्थों मे भी प्रयुक्त होता है (देखो, प्राकृत-शब्द-महार्णव पृष्ठ १०७६)। और इसलिये श्रुतावतारके उक्त वाक्यको ध्यानमें रखते हुए यहां पर उसका सत्य अर्थात् सत् अर्थ ही ठीक जान पडता है और उससे मूल ग्रंथका नाम बिलकुल स्पष्ट होजाता है। भाष्य लिखनेकी प्रतिज्ञाके अवसरपर उस ग्रंथका नाम दिया जाना बहुत कुछ स्वाभाविक है, जिसपर भाष्य लिखा जाता है।

यहां पर यह प्रकट कर देना भी उचित मालूम होता है कि बादको उक्त शास्त्रीजीने भी इसे मान लिया है। वे १७ जूलाई सन् १९३२ के पत्रमे, अपनी भूल स्वीकार करते हुए, लिखते हैं—"मंगलाचरणमे प्रयुक्त 'सत्तकम्मे' इस पदका 'सप्तविधकर्म' ऐसा, अर्थ ठीक नहीं है, जो आपने श्रुतावतार के अनुसार 'सत्कर्म' किया सो ही ठीक मालूम पडता है"।

परसे वीरसेन आचार्यकी कृति जाना जाता है। और इससे तीसरी बात यह फलित होती है कि 'महाधवल' ग्रन्थका विषय इस 'सूर्यप्रकाश' ग्रन्थके विषयसे एकदम भिन्न है और इसलिये यह ग्रंथ जिस 'अनागतप्रकाश' ग्रंथके आधार पर बतलाया जाता है उसके उद्धारका सम्बन्ध महाधवलके साथ नहीं जोड़ा जा सकता।

चौथे, नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्तीने 'अनागतप्रकाश' आदि नामके तीन ग्रन्थ बनाये हैं, इसकी भी अन्य कहींसे कुछ उपलब्धि और सिद्धि नहीं होती। उनके बनाये हुए तीन प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं, जो प्रायः सर्वत्र पाये जाते हैं और वे हैं गोम्मटसार, त्रिलोकसार और लब्धिसार—जिसमें क्षपणासार भी शामिल है। 'बाहुबलि-चरित' में भी नेमिचन्द्रके नामके साथ इन्हीं तीनों ग्रन्थोंका उल्लेख पाया जाता है और लिखा है कि वे सिद्धान्तसागरको मथकर प्राप्त किये गये हैं, जिससे धवलादि सिद्धान्तग्रन्थों परसे उन्हींके उद्धृत किये जानेकी स्पष्ट सूचना मिलती है—दूसरों की नहीं। यथाः—

सिद्धान्तामृतसागरं स्वमतिमन्थक्ष्माभृदालोड्यमध्ये,
लेभेऽभीष्टफलप्रदानपि सदा देशीगणाग्रेसरः।
श्रीमद्गोम्मटलब्धिसारविलसत् त्रैलोक्यसारामर-
क्ष्माजश्रीसुरधेनुचिन्तितमणीन् श्रीनेमिचन्द्रो मुनिः॥

सूर्यप्रकाशके विधाताने नेमिचन्द्राचार्यकी कृतिरूपसे इन ग्रन्थोंका नाम तक भी नहीं दिया! इनके स्थान पर दूसरे ही तीन नवीन ग्रंथोंकी कल्पना कर डाली है, जिनका कहीं कुछ पता तक भी नहीं है!! हां, अनुवादक महाशयको कुछ ख़याल आया और उसने अपनी तरफ़से लिख दिया है कि आपके "प्राकृतके ग्रंथ गोम्मटसारादि प्रसिद्ध हैं"।

इस प्रकार यह जयधवलादि ग्रन्थों का ऐतिहासिक परिचय है और इससे स्पष्ट है कि ग्रन्थकार ने इनके नाम पर कितना जाल रचा है। मालूम होता है उसने कभी इन ग्रन्थों को देखा तक भी नहीं, योंही इधर उधर से इनके महत्वादिकी कुछ कथा सुन कर और यह जान कर कि वे दूर से ही पूजा-अर्चा के पात्र बने हुए मूडबिद्री की एक काल-कोठरी में बन्द हैं, किसी को प्राप्य नहीं हैं, न सर्वसाधारण की उन तक गति है और इसलिये उनके पवित्र नामाश्रय पर जो भी प्रपञ्च रचा जायगा वह सहज ही में किसी को मालूम नहीं हो सकेगा, उस ने यह सब कुछ खेल खेला है; और इस तरह पर अपनी मन-मानी बातोंको प्राचीन ग्रन्थों तथा प्राचीन आचार्यों के नाम पर जनता के गले उतारने का जघन्य प्रयत्न किया है। ग्रन्थकार पं० नेमिचन्द्र का यह प्रयत्न उस प्रपञ्च से भी एक तरह पर कुछ बढ़ा चढ़ा है जो जिनसेन-त्रिवर्णाचार के कर्त्ता ने 'यथोक्तं जयधवले', 'तत्राह महाधवले', 'अथ धवलेऽप्युक्त' जैसे वाक्यों के साथ हिन्दू ऋषियों के स्त्री-संभोगादि संबंधी कुछ जैनबाह्य वाक्यों को हिन्दू-ग्रन्थों से उद्धृत कर उन्हें जय-धवलादि ग्रंथों के नाम से जैन समाज में प्रचलित करने का किया था *। उसका वह प्रपञ्च तो इन सिद्धान्त ग्रन्थों के सम्बन्ध में कुछ थोड़े से वाक्यों तक ही सीमित था, परन्तु इस ग्रंथकार ने तो प्रायः समूचे ग्रंथ को महाधवल की गर्दन पर लाद कर चलाने का भारी प्रपञ्च रचा है! इस जालसाजी तथा धूर्त्तता का भी कुछ ठिकाना है!! मालूम होता है, ग्रंथकार महाशय को अपनी इस प्रच्छन्न-रचना पर, उसे अमोघ समझते हुए बहुत कुछ गर्व हुआ है और इसलिये उसने ग्रन्थावतार के अन्त में यहां तक लिख दिया है कि "जो कोई

* देखो "ग्रंथ परीक्षा" प्रथम भाग, पृष्ठ ८३ से ८५ तक।

मनुष्य कुमार्ग पोषक (सुधारक आदि ?) होंगे वे इस ग्रन्थ के सुनने मात्र से मंत्र-कीलित नागों की तरह मूकवत् स्थिर हो जायंगे—उन्हें इसके विरुद्ध बोल तक नहीं आएगा" —

अस्य श्रवणमात्रेण कुपथपोषका नराः ।
मूकवत् येऽत्र स्थास्यंति यथा नागाश्च कीलिताः ॥

परन्तु बेचारे पण्डितजी को यह ख़बर नहीं थी कि जयधवलादिक ग्रंथ सदा के लिये कालकोठरी में बन्द नहीं रहेंगे, काललब्धिको पाकर एक न एक दिन उनके बंधन भी खुलेंगे, वे कनड़ी लिपिसे देवनागरी लिपिमें भी लिखे जायंगे और विद्वानों के परिचय में भी आएंगे। और न यही ख़बर थी कि उसके इस समग्र मायाजालका भंडाफोड़ करनेवाले तथा इस ग्रंथके विरुद्ध साधिकार बोलने वाले परीक्षक भी पैदा होंगे और उन पर कोई माया मंत्र न चल सकेगा। यदि ख़बर होती तो वह ऐसी गर्वोक्ति का साहस कर व्यर्थ ही हास्यास्पद बनने की चेष्टा न करता।

यहां पर मुझे इतना और भी कह देना चाहिये कि आज भी जो लोग कषाय तथा अज्ञानवश इन ग्रन्थों को छिपा कर रखते हैं और किसी जिज्ञासु विद्वान् को भी पढ़ने के लिये नहीं देते वे इन ग्रन्थों के नाम पर ऐसे प्रपंचों तथा जाली ग्रन्थों के रचे जाने में सहायक होते हैं। अतः मूडबिद्री और सहारनपुर जैसे स्थानों के भाइयों को इस विषय में अपने कर्तव्य को ख़ास तौर पर समझ लेना चाहिये, और साथ ही यह जान लेना चाहिये कि उनका ऐसा व्यवहार जिनवाणी माता के प्रति घोर अत्याचार है तथा दूसरों की ज्ञान सम्प्राप्ति में बाधक होना अपने अशुभ कर्मों के आस्रवबन्ध का कारण है।

२. भगवान महावीर के सिर विरुद्ध कथन।

ग्रन्थ में मंगलाचरणादि के अनन्तर भगवान्

महावीर के समवसरण में राजा श्रेणिक के पहुँचने का और भगवान् से पञ्चमकालभावी प्राणियों के सम्बन्ध में एक प्रश्न "पञ्चमे कीदृशा भूताः का चेष्टा कीदृशो क्रिया। भविष्यन्ति कथं ते हि" इत्यादि रूप से पूछने का उल्लेख करते हुए प्रश्न के उत्तर रूप ग्रंथके विषय का प्रारंभ किया गया है। भगवान ने "श्रुणुत्वं भावि तीर्थेश वर्णनं पंच मस्य वै (७८)" इत्यादि रूप से उत्तर देते हुए और कुछ भविष्य का वर्णन करते हुए कहा है—

> सहस्रार्धेषु वर्षेषु नाशो धर्मस्य वा पुनः।
> भविष्यन्ति पुनर्धर्ममार्गजैनप्रभावकाः ॥१५३॥
> भद्रबाहुस्तथा भूप जिनसेन ऋषीश्वरः।
> समन्तभद्रयोगीन्द्रो बौद्धमातंगसिंहभः॥१५४॥
> इत्याद्या वरयोगीन्द्रा वर्तयिष्यन्ति निश्चयात्।
> दिशावासधराः पूज्यादेवमानववृन्दतः ॥१५५॥
> पश्चाद्भ्रमुनिजायाप्रमाब्दे मगधेश्वर ।
> कुन्दकुन्दाभिधो मौनी भविष्यति सुरार्चितः ॥१५६॥

इस भविष्य वर्णन में बतलाया है कि पाँचसौ वर्ष में धर्म का नाश हो जायगा, फिर जैनधर्म की पुनः प्रभावना-प्रतिष्ठा करने वाले भद्रबाहु, जिनसेन और समन्तभद्र आदि उत्तम योगीन्द्र होंगे। बाद को कुछ वर्ष बीतने पर—जिन की संख्या 'जाया' शब्द का प्रयोग संदिग्ध होने से ७० ऊपर कुछ शतक जान पड़ती है—कुन्दकुन्द नाम के मुनि होंगे।

यह वर्णन आपत्ति के योग्य है; क्योंकि भगवान् महावीर से पाँचसौ वर्ष के भीतर जैनधर्म का नाश अथवा लोप नहीं हुआ, ५०० वर्ष की समाप्ति पर भी जैनधर्म तब आज से कहीं बहुत अधिक अच्छे ढंग से प्रचलित था। उस वक्त उस के अनुयायियों में ग्यारह अङ्गादिक के पाठी तक भी मौजूद थे, जिनका आज शताब्दियों से अभाव है। दूसरे, कुन्दकुन्द का

अवतार समन्तभद्र के ही नहीं, किन्तु जिनसेन के भी बाद (पश्चात्) बतलाना ऐतिहासिक तथ्य के विरुद्ध है। जिनसेन कुन्दकुन्द से कई शताब्दियों बाद विक्रम की ९ वीं शताब्दी में हुए हैं—उन्हों ने 'जयधवल' भाष्य को शक सं० ७५९ (वि० सं० ८९४) में बना कर समाप्त किया है, जबकि कुन्दकुन्द शक संवत् ३८८ से भी बहुत पहिले हो चुके हैं; क्योंकि इस संवत् में लिखे हुए मर्करा ताम्रप्लेट में उनका नामोल्लेख ही नहीं किन्तु उनके वंश में होने वाले गुणचन्द्रादि दूसरे कई आचार्यों तक के नाम भी दिये हुए हैं*। और समन्तभद्र का कुन्दकुन्द से पीछे होना तो श्रवणबेलगोल के कई शिलालेखों (नं० ४०/६४ आदि) से प्रकट है।

यद्यपि श्लोक नं० १५६ के शुरू में प्रयुक्त हुआ 'पश्चात्' शब्द अपने प्रयोगमाहात्म्य से साफ़ तौर पर पूर्वोल्लिखित भद्रबाहु, जिनसेन और समन्तभद्र के पश्चात् कुन्दकुन्द के होने को सूचित करता है, परन्तु अनुवादक महाशय ने उसके पहले "हमारे" अर्थवाचक शब्द को यों ही ऊपर से कल्पना की है और 'जाया' शब्द को चार की संख्या का वाचक बतलाकर (!) लिख दिया है कि—"हमारे (वीर निर्वाण संवत् से) चार सौ सत्तर वर्ष के बाद देवों से पूजित कुन्दकुन्द नाम के यतीश्वर होंगे"—अर्थात् वि० संवत् १ में कुन्दकुन्द का होना बतला दिया है! इस अर्थ को यदि किसी तरह पर ठीक मान लिया जाय तो उस से और कई आपत्तियां खड़ी होती हैं और विरोध आते हैं—

(क) एक तो, आगे कुन्दकुन्द का वर्णन करते हुए जो उनके समय में धरसेनाचार्य कृत धवलादि ग्रंथों का अस्तित्व

* देखो, 'एपिग्राफ़िका कर्णाटिका' जिल्द पहली अथवा 'स्वामी समन्तभद्र' इतिहास पृ० १६६।

बतलाया गया है † वह नहीं बन सकता; क्योंकि वीर निर्वाण संवत् ४७० से पहले न तो धरसेन ही हुए हैं और न उन मूल सिद्धांत ग्रंथों की रचना ही हुई थी जिन पर धवलादि भाष्य रचे गये हैं। इन सब का प्रादुर्भाव धवलादि ग्रन्थों के अनुसार उस समय के बाद हुआ है जबकि एक भी अङ्गका कोई पूरा पाठी नहीं रहा था और यह समय पूर्वोल्लिखित श्रुतावतार तथा श्रुतस्कन्ध के ही नहीं, किन्तु त्रैलोक्यप्रज्ञप्ति और जिनसेन कृत हरिवंश पुराणादि जैसे प्राचीन ग्रंथों के भी अनुसार वीर निर्वाण संवत् ६८३ है। और इसलिये दोनों कथन परस्पर में विरुद्ध पड़ते हैं।

(ख) दूसरे, ग्रंथावतारमें ग्रंथकारका यह सूचित करना कि धरसेनसे पहले संपूर्ण अग तथा पूर्व नष्ट होचुके थे ("अंगाश्च पूर्वा ह्यखिला गताश्च", पृ० ३६०), और फिर धरसेन को वीर निर्वाण सं० ४७० से पहले का विद्वान् बतलाना भी विरुद्ध है, जबकि अङ्गज्ञान नष्ट नहीं हुआ था।

(ग) तीसरे, कुन्दकुन्द के समय में श्वेताम्बर मत का जो बहुत कुछ प्रचार बतलाया गया है और यह कहा गया है कि गिरनार पर्वत पर श्वेताम्बराचार्य के साथ कुन्दकुन्द का महान् वाद हुआ है, वह सब कथन भी विरुद्ध ठहरता है; क्योंकि इसी ग्रंथ में ढूंढक मत की उत्पत्ति का वर्णन करते हुए, श्वेताम्बर मत की उत्पत्ति संवत् १३६ में बतलाई है (पृष्ठ १७९)‡ और यह संवत् १३६ विक्रम संवत् जान पड़ता है, जिस

---

† "धरसेन यतीन्द्रेण रचिता धवलादयः।
विद्यन्ते तेऽधुनातत्र जैनाभिधपुरे वरे ॥ (पृ० ६८)

‡ रिपुरमीन्दु संयुक्तसमेऽभूत्श्वेतवाससाम्।
द्वापरेषु प्रमप्राना यतोहि काल दोषतः ॥

का समर्थन रत्ननन्दि के भद्रबाहु चरित्र से ‡ ही नहीं किंतु १० वीं शताब्दी के बने हुए दर्शनसार ग्रंथ की निम्न गाथा से भी होता है :—

एकसये छत्तीसे विक्कमरायस्स मरण पत्तस्स ।
सोरट्ठे वलहीए उप्पण्णो सेवडो संघो ॥

यदि यह कहा जाय कि यह सं० १३६ वीर निर्वाण संवत् है तब भी विरोध दूर होने में नहीं आता; क्योंकि एक तो दूसरे प्राचीन ग्रन्थों के साथ विरोध बना ही रहता है, दूसरे इसी ग्रंथ में अन्यत्र पृष्ठ ६३ पर श्वेताम्बर मत की उत्पत्ति भद्रबाहु के समय के बाद बतलाई है *। ये भद्रबाहु यदि श्रुतकेवली हों तो उनका समय दिगम्बर मतानुसार वीर निर्वाण से १६२ वर्ष तक का है। इनके बाद श्वेताम्बर मत की उत्पत्ति होने से वह वीर निर्वाण संवत् १३६ में नहीं बन सकती और इस संवत् में उत्पत्ति मानने से वह भद्रबाहु श्रुतकेवली के बाद नहीं बन सकती। यदि ये भद्रबाहु दूसरे भद्रबाहु हों तो फिर वे उक्त भविष्यवर्णन के भी अनुसार वीर निर्वाण से ५०० वर्ष के बाद हुए हैं, तब वीर निर्वाण सं० १३६ में श्वेताम्बर मत की उत्पत्ति और भी ज़्यादा विरुद्ध हो जाती है और 'पश्चात्' शब्द का अर्थ वही ५०० वर्ष के बाद होने वाले भद्रबाहु, समन्तभद्र आदि आचार्यों के भी बाद का रह जाता है जिस पर शुरू में ही आपत्ति की जा चुकी है।

---

‡ मृते विक्रमभूपाले षट्त्रिंशदधिकेशते ।
गतेऽब्दानामभूल्लोके मतं श्वेताम्बराभिधं ॥ ४—५५

* "भद्रदोः समये पश्चादभूद्वै श्वेतवाससां ।
मतः कापठ्यमग्नां द्वादशार्पित चेतसाम् ॥
अर्थ—भद्रबाहु स्वामीके पीछे श्वेतांबर मत प्रचलित हुआ।"

इस तरह पर उक्त भविष्य कथन हर तरह से विरुद्ध तथा आपत्ति के योग्य पाया जाता है। भगवान महावीर जैसे आप्त पुरुषों के द्वारा ऐसे विरुद्ध कथनों का प्रणयन नहीं बन सकता। चूंकि यह सब कथन भगवान महावीर के मुख से कहलाया गया है—उनके सिर पर इसका सारा भार रक्खा गया है—,इसलिये इससे साफ़तौर पर ग्रन्थका जालीपन सिद्ध होता है।

३. महावीर के नाम पर असम्बद्ध प्रलाप।

उक्त (नं० २ में उद्धृत) भविष्य वर्णन के अनन्तर पद्य नं० १५७ में राजा श्रेणिक को कुन्दकुन्द मुनि का चरित्र सुनने की प्रेरणा की गई है और फिर उन मुनिराज का भावी वृत्तान्त सुनाया गया है, जो पद्य नं० ४९७ पर जाकर समाप्त हुआ है। इस प्रकरण के आदि अन्त के दोनों पद्य इस प्रकार हैं—

> मुनेस्तस्य शृणुष्वं च वृत्तमानन्ददायकम्।
> एकाग्रमनसा भूप कर्मेन्धनहुताशनम् ॥१५७॥
>
> इत्थं श्रेणिक भूप सर्वगदितं वृत्तं मया तेऽखिलम्
> पापौघस्य विनाशकं सुविमलं श्रीकुन्दकुन्दस्य वै।
> चित्ते त्वं कुरु धारणं च मनसः शुद्धं करं नन्ददम्
> अग्रे धर्मविवर्द्धकं वरसुरैः पूज्यं च पूज्योदयम् ॥४९७॥

इन से स्पष्ट है कि कुन्दकुन्द का यह सब ३४० पद्यमय भावी वृत्तान्त महावीर के द्वारा राजा श्रेणिक के प्रति कहा गया है। अब इस वृत्तान्त का कुछ परिचय भी लीजिये—

वृत्तान्त के प्रारंभिक अंश (श्लोक नं० १५८ से १९८

तक) को पढ़ते हुए प्रायः * ऐसा मालूम होता है मानो भगवान् ठीक ठीक भविष्य का वर्णन कर रहे हैं। उन्हों ने बतलाया है कि—'वार (वारॉं ?) नगर में 'कुन्द' सेठ और 'कुन्दा' सेठानी से 'कुन्दकुन्द' नाम का पुत्र पैदा होगा, जो कुमार अवस्था में ही जिनचन्द्र मुनि के पास से जिनदीक्षा लेकर मुनि हो जायगा। एक दिन वे कुन्दकुन्द मुनि धरणीभूषण पर्वत पर विदेहक्षेत्रस्थ सीमंधर स्वामी का ध्यान लगाएँगे, उस वक्त सीमंधर स्वामी अपने समवसरण में उन्हें 'धर्मवृद्धि' देंगे, उसे सुनकर वहां पर बैठे हुए चक्रवर्ती आदि राजा विस्मय को प्राप्त हुए (प्रापुः १७०)! वे भगवान सीमंधर स्वामी से पूछेंगे कि यहां कोई आया नहीं, तब आप ने किस को धर्मवृद्धि दी, उत्तर में स्वामी उन्हें भरतक्षेत्र की वर्तमान स्थिति का कुछ वर्णन करते हुए तत्रस्थ कुन्दकुन्द मुनि का और उनके उस ध्यान का परिचय देंगे, उसे सुनकर चक्रवर्ती आदि महान् हर्ष को प्राप्त हुए (संप्रापुः १८४) और सब देवेन्द्रों, राजाओं तथा यतीश्वरों ने हाथ जोड़ कर भारत के उस ऋषि को नमस्कार किया (चक्रुर्नतिं १८५)! इसके बाद यह पूछे जाने पर कि वे कुन्दकुन्द मुनि किस उपाय से यहां आसकेंगे सीमंधर स्वामी ने कहा (अवदत् १८६) कि उनके पूर्व जन्म के दो मित्रों रविकेतु और चन्द्रकेतु को भेजना चाहिये। उक्त दोनों देव कुन्दकुन्द को लेजाने के लिये यहां (भारत में) आवेंगे, उस वक्त यहां रात्रि का समय होने से और यह जानकर कि ध्यानमग्न मुनि रात्रि को बोलते नहीं वे नमस्कार करके वापिस चले

---

* इस अंश में भी कहीं कहीं कुछ भविष्यकालीन क्रियाओं के स्थान पर 'प्रापुः', 'संप्रापुः, 'चक्रुः' और 'अवदत्' जैसी भूतकालीन क्रियाओं का ग़लत प्रयोग पाया जाता है। इसी से यहां जानबूझ कर 'प्रायः' शब्द का व्यवहार किया गया है।

जायंगे; प्रातः काल शिष्योंसे देवोंके आगमन आदिका हाल मालूम करके कुन्दकुन्द इस प्रकारका दुर्घट नियम लेंगे कि जबतक सीमंधर स्वामीको दर्शन-प्राप्ति न होगी तबतक मेरे चार प्रकारके आहारका त्याग है। इसके बाद वे दोनों देव फिर दिनके समय आयँगे और उनके बिमानमें बैठकर कुन्दकुन्द सीमंधर स्वामीके पास जायंगे।' पिछले कथन का सूचक अन्तिम वाक्य इस प्रकार है:—

तद्विमाने समारुह्य यास्यति स मुनीश्वरः।
केवलं धर्मकार्यार्थं पूर्वपुण्येन प्रेरितः ॥१९८॥

परन्तु इस कथनके बाद ऐसा मालूम होता है कि भगवान् अपनी भविष्य वर्णनाकी बातको भूलकर एकदम बदल गये हैं और इसलिये उन्होंने विमानारूढ़ कुन्दकुन्दका शेष जीवन-चरित्र अपने पूर्व कथनके विरुद्ध भूतकालीन क्रियाओंमें इस ढङ्गसे कहना प्रारम्भ कर दिया है मानो कुन्द-कुन्द कोई भूतकालीन ऋषि थे और वे भगवान् महावीरसे पहिले हुए हैं। महावीरके इस उत्तर कथनकी कुछ बातें सूचना-मात्र क्रमशः इस प्रकार हैं:—

"विमानारूढ़ कुन्दकुन्दने अनेक पर्वतों, आश्चर्यों और संपूर्ण पृथिवीको देखते हुए आकाशमें गमन किया (चकार गमनं १९९), विमानसे उतर कर सीमंधर प्रभुकी सभामें प्रवेश किया (विवेश २००), उन्हें देखा×, तीन प्रदक्षिणाएं दीं, उनका स्तवन प्रारंभ किया, अपने लघु शरीरका ख़याल कर कहाँ बैठनेके सम्बन्धमें कुछ विचार किया और फिर सीमंधर स्वामीके पीठाधोभागमें अपना आसन ग्रहण किया। उस

× यहां 'ददर्श' और आगे 'ददौ', 'आरेभे' आदि मूल क्रियापदोंको साथमें न दिखलाकर उनका अर्थ अथवा आशय ही दे दिया गया है।

समय वहां चक्री आया, उसने कुन्दकुन्दको हाथमें लेकर आश्चर्यके साथ कुछ चिन्तन किया, फिर स्वामीसे पूछा, उन्होंने कहा कि जिसकी बाबत पहले कहा गया था यह वही भारतज मुनि हैं, यह सुनकर चक्री सन्तुष्ट हुआ और उसने मुनिको इस भयसे कि कहीं तुच्छकाय होनेके कारण उसे (५०० धनुष ऊंचे पर्वताकार मनुष्योंके बीचमें) कुछ हानि न पहुँच जाय स्वामीके सामने स्थापित कर दिया। कुन्दकुन्द मुनिने सीमंधर स्वामीकी दिव्यवाणी सुनकर आनन्द प्राप्त किया और फिर स्वामीसे एक लम्बासा प्रश्न करके वे मौनस्थ हो रहे— प्रश्नमें मिथ्यात्वकी वृद्धि, सर्वत्र जिनालयोंके न होने, श्वेताम्बर मतके प्रचार तथा जैनशास्त्रोंके न दिखलाई देनेका भी उल्लेख किया गया है और उसका कारण पूछा गया है—उत्तरमें सीमंधर स्वामीकी वाणी खिरी, जिसमें बलभद्रके जीव द्वारा मिथ्या मतकी उत्पत्ति जैसी अन्य बातोंके अतिरिक्त भद्रबाहुके पश्चात् श्वेताम्बर मत उत्पन्न हुआ बतलाया गया, श्वेताम्बरों पर 'कापट्यमग्नता' का आरोप किया गया, दुष्ट लोगों द्वारा जिनागम शास्त्रोंके समुद्रमें डुबोए जानेके कारण जैनशास्त्रोंका न दिखाई देना कहा गया और साथही यहभी कहा गया कि इस समय जैनपुर (मूडबिद्री) में धरसेन यतीन्द्रके रचे हुए धवलादिक शास्त्र मौजूद हैं। उत्तरको सुनकर कुन्दकुन्दका चित्त संदेहरहित होगया। इसके बाद स्वामीकी ध्वनिमें यह बात प्रकट हुई कि कुन्दकुन्द योगीन्द्रको सर्वसिद्धान्त सूचक शास्त्र लिखाकर दिये जाने चाहिये और उन्हे ग्रंथोंके साथ भेजना चाहिये। ध्वनिकी समाप्ति पर कुन्दकुन्द सभास्थानमें ही ग्रंथोंको पढ़नेके लिये बैठ गये (!) और उन्होंने वहां सर्वसिद्धान्त-सूचक ग्रंथ पढ़े। विदेह क्षेत्रमें आहारकी योग्यता न मिलनेसे—वहां आहारके समय दिन और भारतमें उस वक्त

रात्रि होनेकी वजहसे (!)—कुन्दकुन्द सात दिनतक निराहार रहे, फिर सोमंधर स्वामीको बार बार स्तुतिप्रणाम कर, गणधरादिको नमन कर और उनके दिये हुए ग्रंथोंको लेकर तथा विमानमें रखकर वे पूर्वोक्त दोनों देवताओंके साथ आकाश मार्गसे रवाना हुए, देवता उन्हें उसी स्थानपर छोड़कर और उनकी आज्ञा लेकर वापिस चले गये। फिर कुन्दकुन्दने सारे मिथ्यात्वको शान्त किया, उनके उपदेशसे भव्य जीवोंने दान, पूजा, यात्रा, अभिषेक, जिनविम्ब प्रतिष्ठा, मंदिरजीर्णोद्धार आदि अनेक कार्य किये, उस वक्त जैनधर्मका बड़ा उद्योत हुआ, उन्होंने कलिकालमें धर्मका उद्धार किया, वे *मुनि जयवंत हों*। उनके अतिशयको देखकर कितनोंहोने संयम ग्रहण किया। 'नन्दी' आदि उनके शिष्य हुए, जिन्हे चारों दिशाओंमें भव्योंके संबोधनार्थ भेजा गया। उस वक्त *जिनधर्म पृथिवी पर प्रकट हुआ*। कुन्दकुन्दने पुनः सिद्धान्तोंको प्रकट किया, कितनेही ग्रन्थ रचे—जिनमें समयसारादि कुछ प्रसिद्ध ग्रंथोंके अतिरिक्त 'श्रावकाचार*', 'जिनेन्द्रस्नानपाठ' तथा 'प्रभुपूजन'

---

* 'कुन्दकुन्दश्रावकाचार' की परीक्षा की जाचुकी है और वह महाजाली सिद्ध हुआ है (देखो, ग्रन्थपरीक्षा, प्रथम भाग)। मालूम होता है इसी तरह पर और भी कितनेही ग्रथ कुन्दकुन्दके नामसे जाली बनाये गये हैं, जिनमे 'जिनेन्द्रस्नानपाठ' और 'प्रभुपूजन' जैसे ग्रंथभी उसी कोटिके जान पडते हैं। अभिषेक और पूजन जैसे विषय उस वक्त खास विवादापन्न थे और अधिकांशमें वेही तेरहपंथ और बीस पंथके झगड़ेकी जड़ बने हुए थे। भट्टारकों तथा भट्टारकानुगामियोंने इन विषयोंके सम्बन्धमे अपनी मान्यताओंके पोछे युक्तिबल न देखकर प्राचीन आचार्योंके नामपर अनेक जाली ग्रंथोंकी रचना की है, और कितनीही बातें दूसरे ग्रंथोंमे प्रक्षिप्त भी की हैं।

जैसे ग्रंथोंके नामभी दिये हैं और फिर लिखा है कि उन्होंने सर्व प्राणियोंके हितार्थ ग्रंथोंमें विस्तारके साथ पूजाविधि तथा स्नानविधिका निर्माण किया है।"

यह पिछला वाक्य इस प्रकार है—

पूजाविधिस्तथास्नानविधिर्विस्तारतः खलु ।
ग्रंथेषु निर्मितस्तेन सर्वभूतहिताशये ॥३५१॥

इसके अनन्तर मानो भगवान्‌को फिर कुछ होश आई और वे भूत वर्णनाको छोड़ कर पुनः भविष्य कथनके रूपमें कहने लगे—"हे चेलनाकान्त (श्रेणिक) ! इत्यादि संपूर्ण ग्रंथों को वह धर्मबुद्धि मुनि जिनधर्मकी प्रभावनाके लिये करेगा (रचेगा), अपनी सिद्धि तथा भव्योंके सम्बोधनार्थ हे राजन् ! वह यतीन्द्र पृथ्वी पर विहार करेगा और भव्योंको सम्बोधता हुआ तथा धर्मको बढ़ाता हुआ मिथ्यान्धकारका नाश करेगा।" यथा—

इत्यादिसकलान् ग्रंथान् चेलकान्तसुधर्मभाक् ।
करिष्यति प्रभावार्थं जिनधर्मस्य धर्मधीः ॥३५२॥
स यतीन्द्रः स्वासिद्धयर्थं विहारं च करिष्यति ।
तदावनौ नराधीश भव्यबोधार्थमंजसा ॥३५३॥
भव्यान् सम्बोधयन् धर्मं वर्द्धयन् वचनोत्करैः ।
मिथ्यान्धतमसं सैव हनिष्यति भवाब्धिदम् ॥३५४॥

परन्तु यह होश कुछ अधिक समय तक स्थिर नहीं रह सकी, उक्त कथनके अनन्तरही पलट गई अथवा यों कहिये कि भगवान्‌के ज्ञानका क्षण भरमें कुछ ऐसा विपर्यास (उलट-फेर) होगया कि उसमें भविष्यकालीन घटनाएँ भूतकालीनके रूपमें झलकने लगीं और इसलिये भगवान् गिरनार पर्वत पर

होने वाले कुन्दकुन्दके वृत्तान्तको सुननेकी प्रेरणा करते हुए कहने लगे—

'एक दिन उन कुन्दकुन्द मुनीश्वरने नेमिजिनेन्द्रकी यात्राके लिये गमन किया, उनके साथ बहुतसे भव्य पुरुष स्त्रियोंसहित चले—मुनिभी चले, आर्यिकाएँभी चलीं, उस चतुर्विध संघमें ७०० मुनि थे, १४०० आर्यिकाएं थीं, ३५ हज़ार श्रावक थे और ७० हज़ार श्राविकाएं थीं। इतने बड़े संघके साथ कुन्दकुन्द मुनि गिरनार पर्वतके बनमें पहुँचे और सबने मार्गश्रम-निवारणार्थ अपने अपने योग्य स्थान पर डेरा किया। अब दूसरी कथा सुनो—उसी वनमें नेमि जिनकी यात्राके लिये श्वेताम्बरोंका महान् संघभी आ पहुँचा, जिसमें नाना-तिशयसम्पन्न २४० यति थे—जिन्हें नामके यति, रसोंसे अपना शरीर पुष्ट करने वाले तथा मदोद्धत बतलाया गया—और उनके आज्ञापालक दो लाख मनुष्य (श्रावकजन) और थे*। पहले आये हुए संघने कुन्दकुन्दको आगे कर जिस समय यात्रा के लिये प्रस्थान किया उस वक्त श्वेताम्बरोंने—जिन्हें 'खल' तक कहा गया—आकर उसे रोका और कहाकि पहले हम यात्रा करेंगे, क्योंकि हमारा मत सबसे पहला है और हम सब

---

* इससे मालूम होता है कि दोनों संघोंके मुनि-आर्यिका श्रावक-श्राविकाओंकी संख्या तीन लाख सात हज़ार तीनसौ चालीस थी। तब उनके साथ ५० हज़ारके क़रीब गाड़ियां और इतनेही गाड़ी-वान (हांकने वाले) तथा ५० हजारके क़रीब दूसरे नौकर चाकर और एक लाखसे ऊपर बैल-घोड़े-ऊंट वग़ैरह सवारी तथा बारबर्दारीके जान-वरभी होंगे। इतने बड़े जनादि समूहका एकही वक्तमें गिरनार पर्वतकी तलहटीके एक वनमें समाजाना ग्रंथकारको शायद कुछ अस्वाभाविक प्रतीत नहीं हुआ !!

में वृद्ध हैं। इस पर कुन्दकुन्दने 'वस्तुपाल' नामके एक श्रावकको बुला कर और उसे भले प्रकार शिक्षा देकर श्वेताम्बरोंके पास भेजा, जिसने कुछ समझानेके अनन्तर श्वेताम्बरोंसे कह दिया कि यदि तुम्हारी वादकी शक्ति हो तो शीघ्र आकर वाद करलो—जो संघ जीतेगा वही पहले तीर्थयात्रा करेगा। इस तरह श्वेताम्बरोंको क्षुभित कर उसने सब वृत्तान्त आकर गुरु से कह दिया, तब कुन्दकुन्द सर्व संघसहित गिरनार पर्वतके समीप ही ठहर गये। वहीं पर श्वेताम्बरी लोग वादके लिये आ गये। श्वेताम्बरोंके मुख्याचार्य शुक्लाचार्यके साथ कुन्दकुन्दका वाद हुआ। शुक्लाचार्य जब युक्तिवादमें हार गया तब उसे कोप हो आया और उसने अपने मंत्रबल से कुन्दकुन्दके कमण्डलुमें मछलियाँ बनादीं, इशारा पाकर उनके एक शिष्यने कुन्दकुन्द से पूछा 'आपके कमण्डलुमें क्या है?', कुन्दकुन्दने कहा अपने गुरुजीसे ही पूछो वे आदि मतके धारक हैं, उसने तब गुरुसे पूछा और गुरुने मदमें आकर लोगोंको सम्बोधन करते हुए कहा 'देखो, यह मुनि जीव भक्षक है' (क्योंकि इसके कमण्डलुमें मछलिया है)। यह सुनकर कुन्दकुन्दने सीमंधर स्वामीको नमस्कार करके कमंडलु को औंधा कर दिया और उसमेंसे पद्मपुष्पों का समूह नीचे गिरपड़ा, जिसकी सुगन्धसे उसी क्षण वहा भौंहरे आगये। इस अतिशयको देखकर संघके सब लोग बड़े प्रसन्न हुए, लोगोंने 'पद्मनन्दी' नामसे कुन्दकुन्दकी स्तुति की और श्वेताम्बरोंके चेहरे मलिन हो गये। उसी वक्तसे कुन्दकुन्द मुनि 'पद्मनन्दी' नामसे प्रसिद्ध हुए।'

'फिर शुक्लाचार्य और कुन्दकुन्दका और भी वाद (मंत्रवाद) हुआ, मन्त्रबलसे शुक्लाचार्य ने कुन्दकुन्दकी पिच्छिको आकाशमें रखदिया और कुन्दकुन्दने शुक्लाचार्यके शरीरसे वस्त्रों को उतार कर उसके पास रख दिया; इस तरह दोनोंका महान

वाद हुआ—वह पिच्छि तो स्वामीके पास आगई परन्तु वे वस्त्र वहीं रहे।'

'पुनः कुन्दकुन्द स्वामीने शुक्राचार्यसे कहा कि यदि तुम्हारा धर्म आदि धर्म है तो इस पाषाणनिर्मित सरस्वतीकी मूर्त्तिसे कहलाओ, जिसको यह मूर्त्ति आदिमत कह देगी उसीको पहले यात्रा होगी; शुक्राचार्यने इसे स्वीकार किया और अपने मंत्रबलसे मूर्त्तिको बोलनेके लिये प्रेरित किया परन्तु मूर्त्तिने बोलकर नहीं दिया, इससे शुक्राचार्यका मुंह काला पड़ गया। तब कुन्दकुन्दने पिच्छि हाथमें लेकर और सीमंधर स्वामीको नमस्कार कर उस सरस्वतीसे सत्यवाणी बोलनेको कहा, उसे सुनतेही वह पाषाणकी मूर्त्ति बोलने लगी, उसने दैगम्बर मतको तीन बार 'आदिमत' बतलाया, उसकी बहुत कुछ प्रशंसाकी और फिर शुक्राचार्यको अपना संकल्प छोड़ने की प्रेरणा करते हुए वह मौनस्थ हो गई। सरस्वतीके प्रभावसे श्वेताम्बरयतियोंके सर्व देवता कुत्तोंकी तरह भाग गये !* और दिगम्बर पक्षकी जय हुई।'

'तत्पश्चात् कुन्दकुन्दने चतुर्विध संघके साथ श्रीनेमिजिनेन्द्रका सानन्द दर्शन किया और वहीं पर 'सरस्वती' नाम का गच्छ तथा 'बलात्कार' नामका गण स्थापित किया, अपने नामका वंश क़ायम किया और अपने शिष्योंकी 'नन्दि' आदि आम्नाय क़ायम की और कहा कि सर्व संघोंमें मूल संघ मुख्य है, अतः आजसे तुम इसको भजो। सिद्धभूमिकी यात्रा करके कुन्दकुन्द मुनि अपने स्थानको वापिस आ गये और तप करने लगे। एक दिन ध्यानके समय उनकी गर्दन टेढ़ी हो गई, वे उसके कारणका विचार करने लगे तो सरस्वतीने आकर कहा

---

* इस वाक्यके द्वारा भगवान् महावीरकी भाषासमितिका—संयत भाषाका—अच्छा प्रदर्शन किया गया है !

कि अकालमें जैनसिद्धान्तोंको पढ़नेके दोषसे ग्रीवामें यह वक्रता आई है, अकालमें जैनसिद्धान्तोंको नहीं पढ़ना चाहिये। इस पर कुन्दकुन्दने अपनी निन्दा की और उस दोषकी शान्तिके लिये सीमंधर स्वामीका स्तवन किया, तब सरस्वतीने अवक्रता प्रदान की और वह 'वक्रग्रीव' नाम देकर अपने स्थान चली गई। इसीसे कुन्दकुन्दका तीसरा नाम 'वक्रग्रीव' हुआ। 'एलाचार्य' नाम विदेह क्षेत्रसे पड़ा, और विमानमें पिच्छिकाके गिर जाने पर देवोंने गृद्धपिच्छिका दी थी इससे 'गृद्धपिच्छाचार्य' नाम पृथ्वी पर प्रसिद्ध हुआ। इस तरह वे मुनि पांच नामोंसे प्रसिद्धिको प्राप्त हुए।'

यह पिछला वाक्य इस प्रकार है:—

एवं पंचाभिधानेन स मुनिः सकलार्थवित्।
आसीत् विख्याततां पूज्यः विपक्षविजयात्सुरैः ॥४५३॥

इसके बाद भगवान् महावीर कुन्दकुन्दकी भक्तिमें कुछ ऐसे डूबे कि वे इस बातको ही भूल गये कि हम तीर्थङ्कर हैं—सर्वज्ञ हैं, कुन्दकुन्द हमारे पीछे शताब्दियों बाद कलिकालमें एक छद्मस्थज्ञानी साधु होने वाला है; और इसलिये उन्होंने, मानो अपनेको कलिकालीन अनुभव करते हुए, एक पूर्व महर्षि के तौरपर कुन्दकुन्दको नमस्कार किया, उनके चरणोंकी वन्दना की और उनका स्तोत्र तक रच डाला, जिसमें श्वेताम्बरोंको गाली दी गई—उन्हें 'खलाशय' तथा 'क्रूर' बतलाया गया—कुन्दकुन्द मुनीन्द्रने ही इस कलियुगमें शास्त्रादिकी रचना की है ऐसा कहा गया और कहा गया कि उनके समान इस कालमें न कोई हुआ और न होगा। साथही, उनकी माताको भी धन्यवाद दिया गया—जिसकी कूखसे ऐसा पुत्र पैदा हुआ। इतने परसे भी तृप्त न होते हुए पुनः भगवान् 'चित्तरोधार्थ'

पाँच नामोंका बखान कर कुन्दकुन्दका स्तवन करने लगे। इस कथनके सूचक वाक्य इस प्रकार हैं :—

अश्मजा वादिता येन भंगमाप्ताः खलाशयाः।
श्वेतवासोधराः क्रूराः तस्मै श्रीमुनये नमः ॥४५४॥
सीमंधरजिनेन्द्रस्य येनाप्तं दर्शनं शुभम्।
प्राचीनपुण्ययुक्तेन तस्य पादौ नमाम्यहम् ॥४५५॥
अस्मिन् कलौ मुनीन्द्रेण तेनैव रचना कृता।
शास्त्रादीनामहो भव्याः तस्मै नमोस्तु सर्वदा ॥४५६॥
कुन्दकुन्दसमश्चास्मिन् काले मिथ्यात्वसंभृते।
नाभून्नैव पुनश्चात्र भविष्यति सुनिश्चयात् ॥४५७॥
धन्या सा जननी लोके यस्याः कुक्षौ सुरैः स्तुतः।
अभूद्वै ईदृशः पुत्रो मिथ्यान्धतमसः पूषणः ॥४५८॥
कुन्दकुन्दमुनीन्द्रस्य तस्यैवाहं करोमि वै।
स्तवनं चित्तरोधार्थं नित्याहसो विनाशकम् ॥४५९॥

इसके बाद कुन्दकुन्दके स्तवनका माहात्म्य बतला कर भगवान्ने कहा कि—"इस तरह धर्ममार्गको प्रकट करनेके पश्चात् कुन्दकुन्दने अपनी आयुका एक महीना अवशिष्ट जान कर समाधि-सिद्धिके लिये अपने नगरके बाह्यस्थ वनमें गमन किया और वहां क्रमशः सर्व आहारका त्याग कर, मंत्रराजका श्रवण-स्मरण और पंचपरमेष्ठी तथा सीमंधर स्वामीका ध्यान करते हुए, समाधिपूर्वक प्राण त्यागकर स्वर्ग प्राप्त किया। चौथे कालमें वे मोक्ष जायंगे।" और इसके अनन्तरही वे कुन्दकुन्दके गुणोंका तथा उनके पुण्यका पुनः कीर्तन करने लगे और यहां तक कह गये कि 'वे यतिराट् हमारी और तुम्हारी सदा रक्षा

करो ('यतिराट् स पातु नो वः सदा' ४९१) ! हमारी संसारसे रक्षा करो ('नः पातु संसारतः' ४९४)!' साथही, उन्होंने पुण्योपार्जनकी प्रेरणा की और फिर राजा श्रेणिक को संबोधन कर 'इत्थं श्रेणिकभूप सर्वगदितं वृत्तं मया तेऽखिलम्' इत्यादि रूपसे वह उपसंहारात्मक अन्तिम वाक्य (पद्य नं० ४९७) कहा जो ऊपर उद्धृत किया जा चुका है और उसमें बतलाया है कि—'हे राजा श्रेणिक ! इस तरह श्री कुन्दकुन्दका यह सब पूरा निर्मल चरित्र मैंने तुझसे कहा है, इसे तू चित्तमें धारण कर, यह पुण्योदयको लिये हुए पापसमूहका नाश करने वाला, मनको शुद्ध करने वाला, आनन्दका देने वाला, आगामी कालमें धर्मका बढ़ाने वाला और देवोंसे पूज्य है।'

इस प्रकार यह भूत-भविष्यतादिके विवेकरहित ग्रंथकारका भगवान् महावीरके नाम पर असम्बद्ध प्रलाप है। ग्रंथकार को यह सब लिखते हुए इतनी भी होश रही मालूम नहीं होती कि वह अपने कथनके पूर्वापर सम्बन्धको ठीक समझ सके अथवा यह जान सके कि भगवान् महावीर कब हुए हैं—चतुर्थकालमें या इस पंचम (कलि) कालमें—और उनकी क्या पोज़ीशन थी। और इसलिये उसे यह ख़बर नहीं पड़ी कि मैं भगवान्के मुखसे भविष्यमें होने वाले कुन्दकुन्द मुनिका जो वर्णन करा रहा हूं वह भविष्य वर्णनाके रूपमें ही होना चाहिये—भूतवर्णनाके रूपमें नहीं, और न यही समझ पड़ी कि सर्वज्ञ भगवान् के मुखसे कहे जाने वाले शब्द कितने संयत, कितने उदार, कितने गम्भीर और कितने सत्यमय होने चाहियें। इसीसे उसने उन्मत्तकी तरह यद्वा तद्वा कहीं भविष्यकालकी क्रियाका और कहीं भूतकालकी क्रियाका प्रयोग कर डाला! साथही, सत्य-असत्य, उचित-अनुचित, कहने योग्य और न कहने योग्य जो जीमें आया भगवान्के मुखसे कहला

डाला !! इस तरह ग्रंथकारने अपनी मूर्खता, अपनी अज्ञता, अपनी अनुदारता, अपनी साम्प्रदायिकता, अपनी कट्टरता और अपनी मिथ्या धारणाको भगवान् महावीरके ऊपर लादकर उन्हे मूर्ख, अज्ञानी, अनुदार, साम्प्रदायिक, कट्टर और असत्य-भाषी ठहरानेकी अक्षम्य धृष्टता की है !!!

अनुवादक महाशय ब्र० ज्ञानचन्द्रको भी ग्रन्थकारका यह असम्बद्ध प्रलाप कुछ खटका ज़रूर है परन्तु उन्होंने ग्रन्थकारके सुरमें सुर मिलाकर उसे छिपाने तथा उस पर पर्दा डालनेकी जघन्य चेष्टा की है। आपने श्लोक नं० १९८ का अर्थ देनेके बाद एक विचित्र वाक्य इस प्रकार लिख दिया है:—

"आगे ग्रन्थकार उस कथनके अनुसार स्वयं वर्णन करते हैं।"

परन्तु ग्रन्थकारने ग्रन्थमें कहाँ ऐसी सूचना की है, इसे वे बतला नहीं सके और न यह सुझा सके हैं कि ग्रन्थकारको अपने ग्रन्थकी पूर्वप्रतिज्ञा (श्लोक नं० १५७) के विरुद्ध ऐसा करनेकी ज़रूरत क्यों पैदा हुई?—वह भगवान्को बीचमें कहते कहते छोड़कर अपना राग क्यों अलापने लगा?—और पूर्व-कथनमें भी जो कहीं कहीं भूतकालीन वाक्य पाये जाते हैं उनका तब क्या बनेगा? इससे यह सब अनुवादक महाशयकी निजी निःसार कल्पना है। उन्हे इस कल्पनाको करते हुए इतनीभी समझ नहीं पड़ी कि हमारे "उस कथन" शब्दोंका वाच्य भगवान्का भविष्यवर्णनारूप कथन है या भूतवर्णनारूप, यदि भूतवर्णनारूप है तो असम्बद्ध प्रलाप ज्योंका त्यों स्थिर रहता है और यदि भविष्यवर्णनारूप है तो उसके अनुसार ग्रन्थकारका कथनभी भविष्यवर्णनारूप होना चाहिये था, जो नहीं है; और न यही ख़बर पड़ी कि श्लोक नं० १९८ के बादसे यदि ग्रंथकारने बिना किसी सूचनाके ही स्वयं अपने तौरपर

वर्णन करना प्रारम्भ कर दिया था तो फिर आगे चलकर श्लोक नं० ३५२ से भगवान् राजा श्रेणिकको सम्बोधन करते हुए बीच में क्यों बोल पड़े ?—वहाँ उनके इस बीचमें कूद पड़नेको अथवा बिना बुलाये बोल उठनेके कारणकी अनुवादक महाशय ने भी कोई सूचना नहीं की !—क्या ग्रंथकारके सामनेभी उसके सम्बोधनके लिये राजा श्रेणिक मौजूद थे ? यदि ऐसा कुछ नहीं तो फिर क्या अनुवादक महाशय अपने उक्त वाक्य-प्रयोग के द्वारा यह सुझाना चाहते हैं कि भविष्यवर्णनारूप जितना कथन है वह तो ख़ास महावीरका कथन है—उन्हींके शब्दोंमें ज्यों का त्यों उनके मुखसे निकला हुआ है, उसमें तदनुसार कथनकी कोई बात नहीं—और शेष कथन ग्रन्थकारका अपने तौरपर किया हुआ कथन है ? यदि ऐसा है तबभी असम्बद्ध प्रलापका दोष दूर नहीं होता; क्योंकि भविष्यवर्णनाके कथनों को क्रमशः मिलाकर और इसी तरह भूतवर्णनाके कथनोंको क्रमशः मिलाकर अलग अलग पढ़ने पर वे औरभी ज़्यादा असम्बद्ध मालूम होते हैं । उदाहरणके तौर पर यदि 'तद्विमानं समारुह्य यास्यति' इत्यादि श्लोक नं० १९८ के बाद 'इत्यादि सकलान् ग्रंथान्' नामके भविष्यवर्णना वाले श्लोक नं० ३५२ को पढ़ें तो वह कितना असम्बद्ध तथा बेढङ्गा मालूम देगा और उससे भगवान्की मूर्खता, असमीक्ष्यकारिता और उन्मत्त-प्रलापता कितनी अधिक बढ़ जायगी; क्योंकि बीचके सारे कथन-सम्बन्धको छोड़ देने परभी श्लोक नं० ३५२ में प्रयुक्त हुआ 'इत्यादि' शब्द अपने पहले कुछ ग्रंथोंके नामोल्लेखको माँगता है, जिसका महावीरकी भविष्यवर्णनामें अभाव है । अतः इस असम्बद्ध प्रलापके ऊपर किसी तरहभी पर्दा नहीं डाला जा सकता—प्रकरणके आदि अन्तके ऊपर उद्धृत किये हुए दोनों प्रतिज्ञा और उपसंहार वाक्य (नं० १५७, ४९७) ही

इस बातको स्पष्ट बतला रहे हैं कि यह सारा वर्णन भगवान् महावीरके मुखसे राजा श्रेणिकके प्रति कहलाया गया है। अनुवादक महाशयने व्यर्थही भोले पाठकोंको आँखोंमें धूल डालनेका यह निंद्य प्रयत्न किया है। वास्तवमें अपने इस प्रयत्न द्वारा ग्रंथकारकी स्पष्ट मूर्खतादि का पक्ष लेकर उन्होंने खुदको तत्सदृश सिद्ध किया है!

खेद है कि मुनि शान्तिसागरजी आचार्य बनकर और कलिकाल सर्वज्ञ कहलाकर भी ग्रंथकारके इतने मोटे असम्बद्ध प्रलापको समझ नहीं सके, न अपने चेले ब्रह्मचारी (वर्तमान क्षुल्लक ज्ञानसागर) की उक्त कर्तूत (लीपापोती) को ही परख सके हैं और योंही बिना समझे गणधर चेलोंके जालमें फंसकर ऐसे जाली ग्रंथके प्रशंसक बन बैठे हैं और अपने संघ द्वारा उसका प्रचार करते तथा होने देते हैं, जो भगवान् महावीरके पवित्र नामको कलङ्कित करने वाला है। अस्तु।

इस असम्बद्ध प्रलापके भीतर जो असत्य प्रलाप भरा हुआ है और ऐतिहासिक तथ्योंके विरुद्ध कितनाही कथन पाया जाता है उस सबको यहां प्रकट करनेका अवसर नहीं है, अवकाश मिला तो उसका कुछ अंश किसी दूसरी जगह प्रकट किया जायगा—कुछ संकेतमात्र नं० २ में दियाभी जा चुका है। यहां पर सिर्फ़ इतनाही जान लेना चाहिये कि ऐसा असंबद्ध प्रलाप भगवान् महावीर जैसे आप्त पुरुषोंका नहीं हो सकता। चूंकि प्रतिज्ञा और उपसंहार वाक्यों आदिके द्वारा उसे साफ़ तौर पर भगवान् महावीरका प्रकट किया गया है। अतः इस परसे ग्रंथका जालीपन औरभी निःसन्देह हो जाता है और वह स्पष्टतया जाली तथा बनावटी सिद्ध होता है। साथही, यहभी स्पष्ट हो जाता है कि वह ग्रंथकारके कथनानुसार किसी 'अनागतप्रकाश' नामके प्राचीन ग्रंथसे उद्धृत

किया गया मालूम नहीं होता बल्कि अधिकांशमें ग्रंथकारके द्वारा कल्पित किया गया और कुछ इधर उधरके भूतवर्णना वाले आधुनिक भट्टारकीय ग्रन्थों परसे अपनी नासमझीके कारण उठा कर रक्खा गया जान पड़ता है। और इसीसे वह इतना बेढंगा बन गया है।

४ तेरहपंथियोंसे भगवान् की झड़प !

ग्रंथमें भगवान् महावीरके मुखसे भविष्यकथनके रूपमें जो असम्बद्ध प्रलाप कराया गया है वह नं० ३ में दिये हुए कुन्दकुन्दके प्रकरणके साथ ही समाप्त नहीं होता बल्कि दूर तक चला गया है। अगले प्रकरणोंको पढ़ते हुए भी ऐसा मालूम होता है मानो भगवान् कहीं कहीं तो ठीक भविष्यका वर्णन कर रहे हैं और कहीं एकदम विचलित हो उठे हैं और उनके मुखसे कुछका कुछ निकल गया है—कथन का कोई भी एक सिलसिला और सम्बन्ध ठीक नहीं पाया जाता। कुन्दकुन्द-प्रकरण के अनन्तर अगले कथनका जो प्रतिज्ञावाक्य दिया है वह इस प्रकार है:—

अथापरं शृणु भूप पंचमसमयस्य वै।
वृत्तान्तं भाविकं वक्ष्ये सर्वचिन्तासमाधिना ॥४९९॥

इसमें साफ़तौरपर पंचमकालके दूसरे भावी वृत्तान्तके कथनकी प्रतिज्ञा करते हुए राजा श्रेणिकसे उस वृत्तान्तको सुननेकी प्रेरणा की गई है। परन्तु इसके अनन्तर ही, भावी वृत्तान्तकी बातको भुलाकर, भगवानने अभिषेकादि छह क्रियाओंका उपदेश देना प्रारम्भ कर दिया है! और उसके द्वारा वे खुद ही अपनी पूजा-अर्चा का विधान करने बैठ गये हैं! यहां तक कि जपक्रियाके मंत्रोंमें उन्होंने अपना नाम भी

'सर्वकर्मरहिताय श्रीमहावीराजिनेश्वराय सदा नमः' इत्यादि रूप से जपनेके लिये बतला दिया है !! साथ ही अपने परम आराध्य कुन्दकुन्दके नामका मंत्र देना भी वे नहीं भूले हैं और उन्होंन कुन्दकुन्दके नाम वाले मंत्रको तीन बार 'नमोस्तु' के साथ जपनेकी व्यवस्था करके उनके प्रति अपनी गाढ़ श्रद्धा-भक्ति का परिचय दिया है !!! अभिषेक क्रियाके वर्णन में उन्होंने जल, इक्षुरस, घृत, दुग्ध और दधिरूप पंचामृतसे जिनेन्द्रके—और इसलिये अपन भी—स्नानका विधान ही नहीं किया बल्कि "स्नानं कुरुध्वं बुधाः" (५०८) जैसे वाक्यों द्वारा उसकी साक्षात् प्रेरणा तक की है। साथ ही, उसकी दृढ़ताके लिये ऐसे अभिषेकका फल भी मेरु पर्वत पर देवताओं द्वारा अभिषेक किया जाना आदि बतला दिया है और एक नज़ीर भी प्रोत्साहनार्थ तथा इस क्रियाको मुख्यता प्रदान करनेके लिये दे डाली है, और वह यह कि देवता लोग भी पहले भगवान्का अभिषेक करके पीछे सम्पत्तिको अंगीकार करते हैं—दूसरे कामोंमें लगते हैं*। इसी तरह पूजन क्रिया के वर्णनमें उन्होंने भगवच्चरणोंके आगे जल की तीन धाराएं छोड़ने, केसर, अगर-कपूर को घिसकर जिन-चरणों पर लेप करने और जिन-चरणोंके आगे सुन्दर अक्षतों, कुन्द-कमलादिके पुष्पों तथा सर्व प्रकार के पक्वान्न व्यंजनोंको चढ़ाने, हज़ारों घृतपूरित दीपकोंका उद्योत करने, सुगंधित धूप जलाने और केला आम्रादि फलोंको अर्पण करने रूप अष्टद्रव्यसे पूजनका विधान ही नहीं किया किन्तु "एवं बुधोत्तमा जिनपतेः इज्यां कुरुध्वं च भो" (६२२) जैसे वाक्यों

* इससे यह कथन अगले भविष्यकथनकी प्रस्तावना या उत्थानिकाकी कोटिसे निकल जाता है और एक असम्बद्ध प्रलापके रूपमे ही रह जाता है।

द्वारा उस प्रकारसे पूजनकी साक्षात् प्रेरणा भी की अथवा आज्ञा तक दी है। साथ ही ऐसे प्रत्येक द्रव्यसे पूजनका फल ही नहीं बतलाया बल्कि इन द्रव्योंसे पूजन करके फल प्राप्त करने वालोंकी आठ कथाएं भी दे डाली हैं *, जिससे इस प्रकारके पूजनकी पुष्टिमें कोई कोर कसर बाक़ी न रह जाय! शेष जप, स्तुति, ध्यान और गुरुमुखसे शास्त्रश्रवण † नामकी क्रियाओंका विधान भी भगवान्ने प्रेरणा तथा फलवर्णनाके साथ किया है परन्तु उनके विषयमें भविष्यका कोई ख़ास उल्लेख नहीं किया गया‡। इसके बाद वे फिरसे पूर्णाहुतिके तौर पर उक्त छहों क्रियाओंका उपदेश देने बैठ गये हैं! और इतने पर भी तृप्त न होकर थोड़ी देर बाद उन्होंने जलगंधाक्ष-

* ये कथाएं पंचमकालके भाविक वृत्तान्त के वर्णनमे बहुत कुछ असम्बद्ध जानपड़ती हैं, और इनसे यह कथन अगले भविष्यकथन की प्रस्तावना या उत्थानिका की कोटिसे और भी ज़्यादा निकल जाता है तथा एक प्रलापके रूपमे ही रहजाता है।

† ग्रंथोंकी स्वतः स्वाध्यायकर लोग कहीं भक्त भट्टारकोंके शासनसे निकल न जायं—उनपर नुक्ताचीनी करनेवाले तेरहपंथी न बनजायं—इसीसे शायद गुरुमुखसे शास्त्रश्रवणकी यह बात रक्खीगई जान पड़ती है। अनुवादकजीने 'ग्रन्थान् भव्याः गुरोरास्यात् शृणुध्वम्' का अर्थ "ग्रन्थोंका स्वाध्याय गुरुमुखसे ही श्रवण करना चाहिये" देकर इसकी मर्यादा को और भी बढ़ा दिया है, परन्तु खेद है कि वे अपने इस वाक्यमे प्रयुक्त हुए 'ही' शब्दपर खुद अमल करतेहुए नजर नहीं आते!!

‡ इन क्रियाओंके साथमें भविष्यका कोई वर्णन न रहनेसे इनका कथन प्रतिज्ञात भाविक वृत्तान्त के साथ औरभी असंगत होजाता है और बिलकुल ही निरर्थक ठहरता है।

तादि जुदे जुदे द्रव्यों से पूजनका वही राग पुनः छेड़ दिया है !!

हां, बीच बीचमें जब कहीं उन्हें दिगम्बर तेरहपन्थी नज़र पड़ गये हैं या उनसे भी चार क़दम आगे तारनपन्थी और स्थानकवासी दिखलाई दे गये हैं तो भगवान् अपनेको संभाल नहीं सके, वे आवेशमें आकर एकदम उन पर टूट पड़े हैं और समवसरणमें बैठे बैठे ही भगवान्की उनके साथ अच्छी खासी झड़प हो गई है ! भगवान्ने उन्हें मूर्ख, मूढ़, कृतघ्न, गुरुनिन्दक, आगमनिन्दक, जिनागमप्रघातक, जैनेन्द्रमतघातक, मदोद्धत, क्रूर, सुबोधलववर्जित, क्रियालेशोज्झित, वचनोत्थापक, मिथ्यात्वपथसेवक, मायावी, खल, खलाशय, जड़ाशय, धर्मघ्न, धर्मबाह्य, कापट्यपूरित, जिनाज्ञालोपक, कुमार्गगामी और अधम आदि कहकर अथवा इस प्रकारकी गालियां देकर ही संतोष धारण नहीं किया बल्कि उन्हें श्वपचतुल्य (चाण्डालोंके समान) और सप्तम नरकगामी तथा निगोदगामी तक बतला दिया है !!! अभिषेक और पूजन क्रियाओंके सम्बन्धमें भविष्यवर्णना रूपसे जो कथन किया गया है वह प्रायः उन्हींको लक्ष्य करके कहा गया है* । ये पंचमकालके (कलियुगी) लोग इन क्रियाओं

---

* इस प्रकरणके भविष्यवर्णनावाले अधिकांश वाक्य इस प्रकार हैं, जिन्हे पढकर विज्ञ पाठक स्वयं जान सकेंगे कि वे तेरहपंथियों आदि को लक्ष्य करके ही लिखे गये हैं:—

(१) कलौ वै मानवा मूढा चाभिषेकक्रियामिमाम् ।
नूनमुत्थापयिष्यन्ति स्वस्वमतिविपर्ययात् ॥ ५०९ ॥
शास्त्राणां वचनं मूर्खा लोपयिष्यन्ति निश्चयात् ।
नूतनं नूतनं मार्गं करिष्यन्ति स्वकीर्तये ॥ ५१० ॥
दास्यन्ति सर्वग्रन्थानां दोषं स्वमतिसम्बलात् ।
संस्कृतं प्राकृतं ग्रन्थं वाचयिष्यन्ति नैव च ॥ ५११ ॥

को नहीं मानेंगे अथवा अमुक विधिसे अभिषेक-पूजा नहीं करेंगे, क्रियाओंका उत्थापन करेंगे, नया नया मार्ग चलायंगे,

स्वं स्वं कल्पित-वाक्यं च मानयिष्यन्ति ते नराः ।
जैनागमविनिर्मुक्ता आचार्यागमनिन्दकाः ॥ ५१२ ॥
स्वस्वमतस्य पक्षस्य पालका गुरुनिन्दकाः ।
कृतघ्नाः ते भविष्यन्ति जैनेन्द्रमतघातकाः ॥ ५१३ ॥

[इनके अनन्तर ही 'द्वितीया च क्रिया प्रोक्ता' इत्यादि रूपमे पूजन क्रियाका वर्णन है ।]

(२) अनेन विधिना भूप कलौ मूढाश्च ये नराः ।
करिष्यन्ति जिनेन्द्राणां पूजां नैव मदोद्धताः ॥६२३॥
तस्मिन् तदुद्भवाः क्रूराः सुबोधलववर्जिताः ।
वचनोत्थापकाः स्वस्यागमस्यैव प्रतिश्रयात् ॥६२४॥

[इनके बाद 'अंगपूर्वानाराधीश स्थास्यन्ति मत्परं खलु' इत्यादि रूपसे भविष्यवर्णनाके जो चार श्लोक दिये हैं और श्लोक नं० ६४० तक भूतादिवर्णनाको लिये जो वाक्य दिये हैं उनका प्रस्तावित पूजनक्रियाके साथ कोई खास सम्बन्ध नहीं है ।]

(३) कलौ धर्मप्रकाशार्थं सर्वलोकस्य साक्षितः ।
नूतनां स्थापनां लोकाः करिष्यन्ति च मायिनः ॥६४१॥
केचिच्च द्वेषका मर्त्याः केचिच्च सेवकाः खलु ।
एवं तस्मिन् भविष्यन्ति कलौ च मगधाधिप ॥६४२॥
जैनागमसुवाक्येषु ह्यमीषां मगधेश्वर ।
निश्चयो न भविष्यति संशयाधीनचेतसाम् ॥६४३॥
ग्रन्थानां पूजकाः केचित् जिनबिम्बस्य निन्दकाः ।
कलौ भेदाह्यनेके च ज्ञातव्या श्रेणिक त्वया ॥६४४॥
वसुभूपालवत्स्वस्य मतस्य ते नराः खलाः ।
दृढं पक्षं करिष्यन्ति ससघावनि दुःखदम् ॥६४५॥

शास्त्रोंके वचनका लोप करेंगे, ग्रंथोंको दोष लगाएंगे, संस्कृत प्राकृतके ग्रंथ नहीं बाँचेंगे, अपनीही बुद्धिसे कल्पित किये (भाषा) ग्रंथोंको स्वाध्याय तथा पूजनादिके कार्योंमें बर्तेंगे, ग्रंथोंके पूजक तथा जिनबिम्बोंके निन्दकभी होंगे और जिनाप्त-पुरुषों (भट्टारक गुरुओं) तथा साधर्मि पुरुषोंको निन्दा करेंगे, इत्यादि कह कर और निन्दाके फलवर्णनकी अप्रासंगिक बात

जिनाप्तपुरुषाणां च केचिच्छ्राद्धानिका नराः ।
खला निन्दां करिष्यन्ति जिनागम-प्रघातकाः ॥६४६॥
पूर्वाचार्यकृतां सर्वामभिषेकादिकां क्रियाम् ।
तस्मिन्नुत्थापयिष्यन्ति ते मूढाः पञ्चमोद्भवाः ॥६४७॥
नूतनां नूतनां सर्वां करिष्यन्ति जडाशयाः ।
ते नराश्च क्रियां भूप स्वस्वमतिविकल्पतः ॥६४८॥
वयं श्रद्धानिका यूयं मिथ्यात्वपथसेवकाः ।
मानयिष्यन्ति ते चित्ते क्रियालेशोज्झिताः खलु ॥६४९॥
स्वधीकल्पितग्रंथान् वै स्वाध्याये पूजनादिके ।
कार्ये प्रवर्तयिष्यन्ति नो तद्धिते खलाशयाः ॥६५०॥
इत्थं जैनेन्द्रधर्मस्य मध्ये भेदोत्कराः खलु ।
तस्मिन्नेव भविष्यन्ति स्वस्वमतविनाशकाः ॥६५१॥

[इसके पश्चात् हुंडावसर्पिणी कालकी कुछ घटनाओंका उल्लेख ६६० नम्बर तक है ।]

(४) साधर्मि पुरुषाणां च निन्दां ते श्रावकाः खलाः ।
करिष्यन्ति कलौ भूप निन्दायाः किं फलं भवेत् ॥६६१॥

[आगे नम्बर ६८१ तक निन्दाका फल दिया है ।]

(५) ह्येवं सर्वं भविष्यन्ति कलौ भूप न संशयः ।
स्वचित्ते मानयिष्यन्ति वयं श्रद्धानिकाः खलु ॥६८२॥
ग्रंथलोपजपापेन ते च श्रद्धानिकाः खलु ।
नरकावनौ च यास्यन्ति सर्वे हि मगधेश्वर ॥६८३॥

उठाकर उसके बहाने उन्हें फिर प्रकारान्तरमे खूब कोसा गया है—कहा गया है कि ऐसे निन्दक लोग अगले जन्ममें अन्धे, बहरे, गूंगे, कुबड़े, सदा रोगी, विकलांगी, दारिद्री, नपुंसक, कुरूपी, असुरोले, दुःखभोगी, पुत्रपौत्रादि-रहित, सदा शोकी, भाग्यहीन, दुर्बुद्धि, क्रूर, दुष्ट, खल, ज्ञानशून्य, मुन्यादि-वर्जित (साधु आदिके सत्संग रहित अथवा निगुरे), धर्ममार्गपरान्मुख, गुणमानविहीन और दूसरोंके घर पर नौकर होते है (होंगे); प्रतिपच्चन्द्रमाकी तरह (शीघ्र) मर जाते हैं, ८ वे. १२ वें, १६ वे वर्ष तथा जवानीमें ही मरणको प्राप्त हो जाते हैं और इस लोक तथा परलोकमें धूर्त* बन जाते हैं। साथही यहभी कहा गया है कि प्राणियोंके शरीरमें जो भी कष्टदायक दुःख होते हैं वे सब परनिन्दाके फल हैं† और जो लोग प्रत्यक्षमें (सामनेही) निन्दा करते हैं उन्हे चाण्डालके समान समझना चाहिये‡।

* मूलमे 'धवाः' पद है और वह यहाँ धूर्तों का वाचक है। हेमचन्द्रादिके कोशों मे भी 'धवः धूर्ते नरेपत्यौ' आदि वाक्यो के द्वारा 'धव' शब्द को धूर्तवाचक बतलाया है। परन्तु अनुवादकसंपादक ब्र० ज्ञानचन्द्रजी महाराजने अपनी नूतनाविष्कारिणी शक्तिके द्वारा बडी निरंकुशताके साथ उसका अर्थ विधुर तथा विधवा कर दिया है और लिख दिया है कि "इस लोक तथा परलोक मे विधुर अथवा विधवा हो जाते हैं" !!

† फलादेशकी इस फिलासॉफीने जैनधर्मकी सारी कर्म-फिलासॉफीको लपेट कर बालाएताक़ रख दिया है !

‡ पिछले दोनो वाक्योंके सूचक श्लोक इस प्रकार हैं :—

ये ये दुःखाश्च जायंते प्राणिनां दुःखदायकाः।
ते ते ज्ञेयाः शरीरेषु परनिन्दाया भी फलम्॥ ६७९॥
प्रत्यक्षं येऽत्र मूढा वै निन्दां कुर्वन्ति सर्वदा।
ज्ञेयाः श्वपचसा तुल्याः स्वमतस्य क्षयकराः॥६८१॥

इसके बाद यह दुहाई देते हुए कि ग्रंथोंमें भद्रबाहु, माघनन्दी, जिनसेन, गुणभद्र, कुन्दकुन्द, वसुनन्दी और सकलकीर्ति आदि योगीन्द्रोंके द्वारा पूजा स्नानादिकी वे ही सब क्रियाएं रक्खी गई हैं जो वीतराग भगवान् तथा गणधरादिकने कही हैं, यहां तक कह डाला है कि उन क्रियाओंका उत्थापन करने वाले कपटी मनुष्य दुःखोंसे भरे हुए सातों नरकोंमें क्यों नहीं जायंगे ? भगवान्के वचनको लोपनेसे मूढ मानी पुरुष निश्चयही नाना दुःखों की खान निगोदोंमे पड़ेंगे † ।

अन्तमें बहुत कुछ संतप्त होकर भगवान उन तेरहपन्थियों आदिको सम्बोधन करते हुए उनसे इस प्रकार पूछने और कहने लगे हैं—

'बतलाओ तो सही, किस ग्रंथके आधार पर तुमने गृहस्थोंकी इन छह क्रियाओं (पंचामृत अभिषेक, भगवत् चरणों पर गंधलेपनको लिये हुए सचित्तादि द्रव्योंसे पूजा, स्तुति, जप, ध्यान, गुरुमुखसे शास्त्रश्रवण) का लोप किया है ? यदि तुम्हारे जिनागम की श्रद्धा है तो प्रतिदिन छह क्रियाओंको करो । मूढ़ो ! हृदयोक्तिको छोड़ो और वसु राजाकी तरह ग्रंथों का लोप मत करो । अहो मूर्खो ! मतिश्रुतावधिनेत्रधारक योगियोंने तो इन अभिषेकादि संपूर्ण क्रियाओंमें कोई दोष देखा नहीं, तुम्हारे तो मूढ़ो ! मतिज्ञानादि सद्गुण अल्प मात्रामें भी दिखाई नहीं देते, फिर बतलाओ तुम बुद्धिविहीनोंने किस ज्ञान से अभिषेकादि क्रियाओंमें प्रदोष देखा है ? प्रभुके चरणों पर चन्दनादिसे लेप करनेमें क्या दोष है ? दीपकका उद्योत करने

---

† तत्क्रियोत्थापकाः किन्न यास्यन्ति ये च सप्तसु ।
श्वभ्रेषु दुःखपूर्णेषु नराः कापट्यपूरिताः ॥६९४॥
प्रभोर्वाक्यप्रलोपेन ते मूढा मानसंयुताः ।
यास्यन्ति वै निकोतेषु नानादुःखकरेषुच ॥६९८॥

में, जिनांकस्थित यक्षोंका पूजन करनेमें, धूप जलानेमें, रात्रि को पूजन करनेमें, जिनाप्तपुरुषों (भट्टारकों) के मार्गवर्धक वात्सल्यमें, पुष्पसमूहसे जिनचरणकी पूजा करनेमें और केला, आम तथा अंगूरादि फलोंसे पूजा करनेमें क्या दोष है? इत्यादि संपूर्ण क्रियाएं जिननाथने आगममें कही हैं, तुमने अपनी मूढबुद्धिसे उन्हें छोड़ दिया है। अतः तुम जिनेन्द्रकी आज्ञा भङ्ग करने वाले और कुमार्गगामी हो, श्राद्ध (श्रद्धावान् श्रावक) नहीं हो, जिनाज्ञाके लोपसे निष्फल हो गये हो। जहां आज्ञा (आज्ञापालन) नहीं वहाँ धर्मका लेशभी नहीं, अतः तुम निःसन्देह कुश्रद्धाके पालक हो। अरे! जिनवचनमें यदि तुम्हारी दृढ़ श्रद्धा हो तो अभिषेकादि सत्क्रियाओंको अङ्गीकार करो। मूढो! बतलाओ तो सही, किसकी आज्ञासे तुमने अभिषेकादि मुख्य क्रियाएं छोड़ी हैं? ग्रन्थ खोलकर दिखलाओ। दुष्टो! बोलो, ग्रंथोंके अनुसार तुमने ये क्रियाएं छोड़ी हैं या अपनी मतिके अनुसार? जिनमुखोत्पन्न ग्रंथोंकी आज्ञा तो तीनों लोकमें सभी देवेन्द्र, नरेन्द्र, नागेन्द्र और खचरेन्द्र मानते हैं, जिनेन्द्रकी आज्ञाके बिना सुरेन्द्र कहींभी कोई काम नहीं करते, फिर बतलाओ अरे मर्त्यो! तुमने परम्परासे चली आई इन अभिषेकादि क्रियाओंको कैसे उत्थापित किया है? जिनाज्ञा लोपनेकी सामर्थ्य तो देवेन्द्रोंकी भी नहीं होती, मूढो! तुमने कैसे उसका लोप कर दिया? क्या तुम उनसेभी बड़े हो और इसलिये तुमने सर्वेन्द्रपूज्य प्रभुके वाक्यका उत्थापन कर दिया है? अरे मूर्खो! बोलो, क्या ये सब क्रियाएं असत्य हैं? यदि असत्य हैं तो फिर सारे ग्रंथ झूठे ठहरेंगे। तुम्हारे यदि जिनागमकी श्रद्धा है तो फिर आगम वाक्यके अनुसार क्यों नहीं चलते? पक्षपातको छोड़ो और ग्रन्थपक्ष के अनुसार चलो।'

जिन वाक्यांका सार दिया गया है वे क्रमशः इस प्रकार हैं :—

भवद्भिः केन ग्रन्थेन वक्तव्यं खलु लोपिताः ।
षट् क्रियाः जिननाथेन इमाः प्रोक्ताश्च गेहिनाम् ॥६०॥
स्यात् यदि दृढ़श्रद्धा वै भवतामागमस्य च ।
कुरुध्वं जिननाथस्य षट् क्रियां वासरं प्रति ॥६१॥
त्यजध्वं हृदयोक्तिं च वसुभूपालवत् खलु ।
ग्रन्थानां लोपनं मूढ़ा मा कुरुध्वं मतापहम् ॥६२॥
मतिश्रुतावधिनेत्रधारकाणां च योगिनाम् ।
गृहस्थधर्मव्याख्यानं कुर्वतां च विमानिनाम् ॥६३॥
तेषां नैव ह्यहो मूर्खा दोषो दृष्टोकिमप्यहो ।
अभिषेकादिसर्वासु क्रियासु विदितेषु वै ॥६४॥
भवतां नैव भो मूढा मतिज्ञानादिसद्गुणाः ।
चाल्यमात्रापि दृश्यंते सर्वद्वापरनाशकाः ॥६५॥
वक्तव्यं केन ज्ञानेन भवाद्भिः मतिवर्जितैः ।
किं दृष्टश्च प्रदोषो वै अभिषेकादिषु खलु ॥६६॥
दोषः किंस्यात्प्रभोः पादलेपने चन्दनादिभिः ।
दीपस्योद्योतने किं च जिनांकयक्षपूजने ॥६७॥
धूपोत्करस्य दहने निशायाः पूजने तथा ।
जिनात्तपुरुषाणां च वात्सल्ये मार्गवर्द्धके ॥६८॥
पुष्पोत्करैः जिनेन्द्रस्य पादाम्बुजपूजने खलु ।
केलाम्रगोस्तनी चान्यत्फलोत्करैः प्रपूजने ॥६९॥

इत्याद्या याः क्रियाः सर्वा जिननाथेन वर्णिताः ।
आगमे तत् भवद्भिश्च त्यक्ता भो मूढबुद्धितः ॥७०॥
अतः यूयं जिनेन्द्रस्य आज्ञाघ्नाश्च कुमार्गगाः।
न श्राद्धा निःफला जाता जिनाज्ञालोपतः खलु ॥७१॥
यत्राज्ञा न च तत्रापि धर्मलेशोऽपि नास्ति वै ।
अतो यूयं कुश्रद्धायाः पालकाश्च न संशयः ॥७२॥
यदि स्यात् दृढश्रद्धा वै भवतां तद्वचनस्य च ।
तदा ह्यंगीकुरुध्वं भो स्नपनादिसत्क्रियाम् ॥७३॥
आख्यापयथ मूढाः कस्याज्ञया स्नपनादिकाः ।
यूयं त्यक्ताः क्रिया मुख्या ग्रन्थपक्षं प्रदर्शयथ ॥७४॥
ग्रन्थानुसारतः त्यक्ताः वदध्वं च क्रियाः खलाः ।
इमे यूयं तथा किं च स्वमतेः सारतः खलु ॥७५॥
जिनाननसमुत्पन्नग्रन्थाज्ञां भुवने त्रये ।
देवेन्द्रा वा नरेन्द्राश्च नागेन्द्राः खचरेश्वराः ॥७६॥
सर्वे ते मानयन्त्येव निःशंकां निखिलार्थदाम् ।
मतिश्रुतावधिश्लिष्टशुद्धदृग्धारकाः खलु ॥७७॥
क्वचिदपि जिनेन्द्रस्य चाज्ञा ऋते सुरेश्वराः ।
न कुर्वन्त्यपरं कार्यं नानाभवप्रदायकम् ॥७८॥
यूयं वदथ भो मर्त्याः पारंपर्यात्समागताः ।
भवद्भिरभिषेकाद्याः कथमुत्थापिताः खलु ॥७९॥
सुरेन्द्राणामपि नैव सामर्थ्यं स्यात्कदाचन ।
जिनाज्ञालोपने मूढाः भवद्भिः लोपिताः कथम् ॥८०॥

यूयं तदधिकाः किं वै अतः उत्थापितं प्रभोः ।
वाक्यं सर्वेन्द्रपूज्यं च सर्वत्रापि निरंकुशम् ॥८१॥
वदध्वं पुनः भो मूर्खा ह्यसत्याः स्युरिमाः क्रियाः ।
सर्वे ग्रन्था असत्याः स्युः सर्वसन्देहनाशकाः ॥८२॥
युष्माकं यदि श्रद्धा स्यात् दृढ़ा जिनागमस्य वै ।
तदा किं न कुरुध्व भो तत् वाक्यं शिवदायकम् ॥८३॥
पक्षपातं त्यजध्वं च ग्रन्थपक्ष जगन्नुत्तम् ।
यूयं श्रद्धानिका नित्यं कुरुध्वं धर्मसिद्धये ॥८४॥

—पृष्ठ १६३ से १६७

पाठकजन! देखा, कितनी भारी झड़पका यह उल्लेख है! इसी तरहका और भी कितनाही संघर्षात्मक कथन है, जो भट्टारकोंको—ग्रन्थकारके शब्दोंमें जिनाप्तपुरुषों को—गुरु न माननेसे सम्बन्ध रखता है, जिसमें भट्टारकोंको गुरु न माननेवालोंको सप्तम नरकगामी तक बतलाया है!* और जिसे यहां छोड़ा जाता है। अस्तु; इतनी खैर हुई कि ग्रंथकारने उत्तर में तेरहपन्थियोंको कुछ बोलने नहीं दिया, नहीं तो समवसरण सभाका रंग कुछ दूसरा ही हो जाता! और इस तरहसे निरर्गल बोलने तथा पूछने वाले भगवान्के ज्ञान-विज्ञानकी सारी क़लई खुल जाती!!

इस प्रकार ग्रंथकारने अपनी इस कृतिद्वारा भगवान् महावीर जैसे परमवीतरागी और ब्रह्मज्ञानी पूज्य महान् पुरुषको एक अच्छा खासा पागल, विक्षिप्तचित्त, अविवेकी, कषायवशवर्ती

---

* येऽधमा नैव मन्यन्ते गुरुं ज्ञानस्य दायकम् ।
ते यास्यन्ति न संदेहः सप्तमे श्वभ्रकूपके ॥
पृ० ॥ १७७ ॥

और कलुषितहृदय, क्षुद्रव्यक्ति प्रतिपादित किया है। उसका यह घोर अपराध किसी तरह भी क्षमा किये जानेके योग्य नहीं है। एक स्वार्थसाधु पामर मनुष्य अपनी स्वार्थसाधना में अंधा होकर और कषायोंमें डूब कर जाने-अनजाने पूज्यपुरुषों तक को कितना नीचे गिरा देता है, यह इस प्रकरण से बहुत कुछ स्पष्ट है, जिसमें यहां तक चित्रित किया गया है कि भविष्यमें एक ख़ास ढंग से अभिषेकपूजाको न होते हुए देखकर भगवान् एक दम बिगड़ बैठे हैं! ग्रंथकारने अपनी कुत्सित वासनाओं और कषायभावनाओंको चरितार्थ करनेके लिये भगवान् महावीरके पवित्र नामका आश्रय लियाहै,उसे अपना आला अथवा हथियार बनाया है—अर्थात् बातें अपनी, कहनेका ढंग अपना और नाम भ० महावीरका! उसकी इस कृतिमें साफ़ तौर पर भट्टारकानुगामियोंकी तेरहपंथियोंके साथ युद्धकी वही मनोवृत्ति काम करती हुई दिखलाई दे रही है जिसका पहले लेखमें उल्लेख किया जा चुका है। इसके सिवाय इस सारे वर्णनमें और कुछ भी सार नहीं है। भगवान् महावीर जैसे परम विवेकी और परम संयमी आप्तपुरुषोंका ऐसा असम्बद्ध, सदोष और कषाय-परिपूर्ण बचनव्यवहार नहीं हो सकता। ऐसे बचनों अथवा ग्रंथों को जिनवाणी कहना—जिनमुखोत्पन्न बतलाना—जिनबाणी-का उपहास करना है। यदि सचमुच जिनबाणी का ऐसा ही रूपहो तो उसे कोई भी सुशिक्षित और सहृदय मानव अपनानेके लिये तय्यार नहीं होगा।

इसके सिवाय, किसी भी सभ्य मनुष्यको यह बात पसंद नहीं आती कि वह अपनी पूजा प्रशंसाके लिये दूसरों को साक्षात् प्रेरणा करे, फिर मोहरहित वीतरागी आप्तपुरुषोंकी तो बातही निराली है—उन्हें वीतराग होने के कारण पूजाप्रशंसा से कोई प्रयोजन ही नहीं होता; जैसाकि स्वामी समन्तभद्रके

न पूजयार्थस्त्वयि वीतरागे जैसे वाक्यसे प्रकट है। उनके द्वारा इसतरह विस्तारपूर्वक और लड़झगड़कर अपनी पूजाअर्चाका विधान नहीं बन सकता। स्वामी पात्रकेसरीने तो अपने स्तोत्रमें '*त्वया ज्वालितकेवलेन न हि देशिताःकिन्तु तास्त्वयि प्रसृतभक्तिभिः स्वयमनुष्ठिताः श्रावकैः*' जैसे वाक्य द्वारा स्पष्ट बतला दिया है कि केवलज्ञानी भगवान्ने इन पूजनादि क्रियाओंका उपदेश नहीं दिया; किन्तु भक्त श्रावकोंने स्वयं ही (अपनी भक्ति आदि के वश होकर) उनका अनुष्ठान किया है—उन्हें अपने व्यवहार के लिये कल्पित कियाहै। और यह बहुत कुछ स्वाभाविक है*। ऐसी हालतमें भगवान् महावीरके मुखसे जो कुछ यद्वातद्वा अपनी इच्छानुकूल कहलाया गया है और उसमें तेरहपन्थियों आदिके प्रति जो अपशब्दोंका व्यवहार किया गया है उससे भगवान महावीरका कोई सम्बन्ध नहीं है—उनका ज़रा भी उसमें हाथ नहीं है—वह सब वास्तव में ग्रन्थकारके संतप्त एवं आकुल हृदयका प्रतिबिम्ब है, उसकी अपनी चित्तवृत्तिका रूप है, और इसलिए उसकी निजी कृति है। अपनी कृतिको दूसरे को प्रकट करना अथवा उसके विषय में ऐसी योजना करना जिससे वह दूसरे की समझली जाय, इसीका नाम जालसाज़ी है और इस जालसाज़ी से यह ग्रन्थ लबालब भरा हुआ है। इसलिए इसे जाली कहने में ज़रा भी अत्युक्ति नहीं है।

अपनी इस कृति परसे ग्रन्थकार पंडित नेमिचन्द्र इतना मूर्ख मालूम होता है कि उसे ग्रन्थरचनाके समय इतनी भी तमीज़ (विवेक-परिणति) नहीं रही है कि मैं कहना तो क्या

---

*इस विषयके विशेष विवेचनादिके लिये लेखककी उस लेख-मालाको देखना चाहिये जो कुछ वर्ष पहले 'उपासना-विषयक समाधान' नामसे जैनजगत्में प्रकट हुई थी।

चाहता हूं और कह क्या रहा हूं ! वह कहने तो चला भगवान महावीरके मुखसे निकला हुआ अविकल भाविक वृत्तान्त और सुना गया अपने संतप्त हृदयकी बेढंगी दास्तान !! जिस पर-निन्दाको उसने इतनी बुराईकी और जिसका इतना भारी भयङ्कर परिणाम बतलाया, उसीको उसने खुद अपनाया है और उससे उसका ग्रंथ भरा पड़ा है !!! क्या दूसरोंको उपदेश देना ही पंडिताईका लक्षण है—खुद अमल करना नहीं ?

समझमें नहीं आता, आचार्य कहलाने वाले शांतिसागर-जीने ऐसे कषायवर्धक और साम्प्रदायिक विद्वेषमूलक जाली ग्रंथ को कैसे पसंद किया, क्यों कर अपनाया और किस तरह वे उसकी प्रशंसा करने बैठ गये !! क्या उन्होंने भगवान् महा-वीर को ऐसा ही कलुषितहृदय, अविवेकी, असभ्य और योंही हवासे बातें करनेवाला उन्मत्त प्रलापी एवं क्षुद्र प्राणी समझा है ? क्या इसी रूपमें—उनके ऐसे ही गुणोंका चिन्तवन करते हुए—वे उनका ध्यान किया करते हैं ? और ऐसेही बेढंगे ग्रन्थोंको वे जिनवाणी समझते हैं ? अथवा यह समझ लिया जाय कि वे खुद भी ग्रंथकारके रंगमें रंग हुए हैं ? बड़ी ही कृपा हो यदि आचार्य महाराज स्वयंही इस विषयका खुलासा प्रगट करने का कष्ट उठाएँ। और यदि वस्तुतः किसीके प्रभावमें पड़कर या वस्तुस्थितिको ठीक न समझनेके कारण उनसे भूल हो गई है तो उसका खुले दिलसे प्रायश्चित्त कर डालें, और अपने संघमें ऐसे दूषित ग्रन्थों के प्रचार को रोक देवें। इसीमें उनके पदकी शोभा है।

५ ढूँढियों पर गालियों की वर्षा

दिगम्बर तेरहपन्थियोंसे उस भारी झड़पके बाद जिसका ऊपर नं० ४ में उल्लेख किया जाचुका है, भगवान महावीर,

अपनी उसी भाविक वृत्तान्त-वर्णनाके सिलसिलेमें, राजा श्रेणिकको ढूँढियों (स्थानकवासी जैनों) का कुछ वर्णन सुनाने बैठे हैं, जिसे ग्रन्थमें 'ढूँढकमतोत्पत्ति' नाम दिया गया है। परन्तु ढूँढक मतकी उत्पत्तिका इस प्रकरणमें प्रायः कुछ भी इतिहास नहीं है—सिर्फ इतना कहा गया है कि श्वेताम्बर मतमें लुंका (लोंका शाह) सम्वत् १५२७ में उत्पन्न हुआ। उसके मतमें बहुतसे भेद हुए, कोई जिनपूजाके निन्दक हैं, कोई जिन बिम्बोंके दर्शन-पूजनसे पराङ्मुख हैं, कोई तीर्थयात्राओं की निन्दा करते हैं, कोई जैनमन्दिरों तथा प्रतिष्ठाओंके निषेधक हैं, और ये सब जिनमार्गके नाशक हुए हैं (बभूवुः)। बाकी सारा प्रकरण दिगम्बर तेरहपन्थियोंकी तरह ढूँढियोंके साथ भगवान्‌के लड़ने झगड़ने, उनकी पूजनादिसम्बन्धी कुछ मान्यताओंका खण्डन करने और उनपर अविश्रान्त गालियोंकी वर्षा से भरा हुआ है। मालूम होता है 'अथापरंशृणुध्वं भो'* इन शब्दोंके साथ प्रकरणका प्रारम्भ करतेही भगवान् एक दम विचलित हो उठे हैं, उन्होंने भविष्यवर्णनाकी अपनी बात (प्रतिज्ञा) को भुला दिया है और वे ढूँढियोंकी उत्पत्तिका वर्णन एक अतीत घटनाके रूपमें करने चले हैं! उन्होंने उसके लिये प्रायः आसीत्, अभूत, जाताः, बभूवुः जैसी भूतकालीन क्रियाओंका प्रयोग किया है× और उनके द्वारा यह सूचित

---

* यह पूरा श्लोक इस प्रकार है:—

अथापरं शृणुध्वं भो श्वेतवासोमते खलु।
लुङ्काभिधः कुधीरासीत्सर्वधर्मविनाशकः ॥१४६॥

× अनुवादकको भी यह बात कुछ खटकी है और इसलिये उसने कहीं कहीं हिन्दी पाठकोंको धोखेमें डालते हुए, भूतकालकी क्रिया का अर्थ भविष्यकालकी क्रियामे दे दिया है। —देखो, पृष्ठ १८०।

किया है कि ढूंढकमत (स्थानकवासी सम्प्रदाय) की उत्पत्ति उनसे पहलेही हो चुकी थी; इतनाही नहीं बल्कि निम्न वाक्य द्वारा वे यहाँ तकभी स्पष्ट कह गयेहैं कि इस वक्त ढूंढिया लोग सब जगह खूब फैले हुए हैं !!‡—

नाम्ना ढूंढ्याश्च विख्याता क्रियाकर्मविवर्जिताः ।
सर्वत्र विस्तृता ते च ह्यधुना भो बुधोत्तमाः ॥१५२॥

इसके सिवाय, भगवानने, भो लुंकमतधारकाः, भो लुंकाः, भो ढूंढ्याः, इत्यादि सम्बोधन-पदोंके द्वारा ढूंढियोंको साक्षात् सम्बोधन करके कितनीही बातें गद्य-पद्यमें कही हैं— उन्हें पूजनविधान तथा जिनबिम्बदर्शनादिके लिये, क्रोध भरे अपशब्दोंके साथ, उनके पैंतालीसा †, जीवाभिगम, ज्ञाताकथा, उपासकदशा, सूत्रकृतागम और भगवतीसूत्रादि ग्रन्थोंको देखने, उनके अनुसार चलने अथवा उनका लोप कर देनेको भी कहा

‡ अनुवादक ब्रह्मचारी ज्ञानचन्द्र (क्षुल्लक ज्ञानसागर) जीने श्लोकके उत्तरार्द्धका, जिसमे यह बात कही गई है, अर्थ ही नहीं दिया और न यही सूचित किया कि इस वाक्यका अर्थ उनसे नहीं बन सका, जो अतिसुगम है ! यह है आपके निष्कपट व्यवहारका एक नमूना !! आपकी लीलाओंके विशेष परिचयके लिये तो 'अनुवादककी निरंकुशता' वाले प्रकरणको देखिये ।

† 'पैंतालीसाभिधे ग्रन्थे' इन शब्दोंमे 'पैंतालीस' या 'पैंतालीसा' नाम के जिस ग्रन्थ का उल्लेख किया गया है उस नामका कोई एक ग्रन्थ ढूंढियोंके यहां देखने अथवा सुननेमें नहीं आता। संभव है कि यह श्वेताम्बरोंके ४५ आगम ग्रंथोंकी तरफ ही मूर्खतापूर्ण इशारा हो, जिनमें से ढूँढिया भाई बहुतसे ग्रंथोंको प्रमाण नहीं मानते ।

है। कुछ बातोंका ढूँढियोंने उत्तरभी दिया है जिसका उल्लेख ग्रन्थमें निम्न प्रकारके वाक्योंके साथ किया गया है:—

ढूंढ्या इत्युत्तरं श्रुत्वापि स्वपक्ष-पालनार्थमित्यूचुः ।
इति श्रुत्वापि पुनः लुंकमतधारका ढूंढ्या इत्याहुः ॥

इससे जान पड़ता है कि बहुतसे ढूँढिये भगवानके समवसरणमें पहुँच गये थे! उन्हें अपनी सभामें साक्षात् सामने बैठे देखकर भगवान श्रेणिकको कथा सुनानीभी भूलकर इतने आवेशमें भर गये और इतने उत्तेजित हो उठे कि वे अपनेको संभाल नहीं सके और इसलिये उन्होंने, जो कुछ कहनी अनकहनी थी, वह सब कह डाली! उन्होंने सब ढूँढियोंको मूर्ख, मूढ, मूढमानस, मूढचित्त, महामूढ, सुबोधलववर्जित, मतिवर्जित, निर्विचार, मतिहीन, ज्ञातिहीन, क्रियाहीन, सर्व-हीन, क्रियाकर्मविवर्जित, जिननिन्दक, जिनाज्ञाविमुख, धर्म-लोपक, जिनमार्गनाशक, जिनधर्मनाशक, जैनघातक, जिनघ्न, जिनागमघ्न, जिनवाक्यघ्न, जिनमंत्रराजघ्न, सर्वघ्न, मदोद्धत, मदोन्मत्त, खल, खलात्मा, खलाशय, क्रूर, अशुद्ध, असाधु, कुकुलान्वित, ज्ञानलेशोज्झित, भक्ष्याभक्ष्यविवेकरहित, भ्रष्टा-चारी, अधम आदि कहकरही सन्तोष धारण नहीं किया; बल्कि उन्हें बगुलोंसे भी गये बीते, श्वपचवत्, निशाचरसम, जनंग-मोपम (चाण्डालतुल्य), चाण्डालोंसे भी हीन, म्लेच्छाचार-प्रपालक, म्लेच्छ, जीवभक्षक, पशुतुल्य, दुर्गतिगामी और निगोदगामी तक कह डाला है!! इस प्रकरणके पिछले कुछ थोड़ेसे वाक्य नमूनेके तौरपर इस प्रकार हैं:—

हंसा हंसाः हि भो मूर्खाः बका बकाश्च सुन्दराः।
यूयं च बक-तुल्यापि नो सन्ति ध्यानमानसाः ॥८३॥

क्रियालेशोऽपि नास्त्येव भवतां च खलात्मनाम् ।
यत्र नास्ति क्रियाशुद्धिः धर्मोपि तत्र नास्ति वै ॥८४॥
प्रत्यक्षं भवतां मूढाः म्लेच्छाचारो हि दृश्यते ।
अतः स्युः तत्समाः यूयं भ्रष्टाचारस्य पालनात् ॥८५॥
जिह्वास्वादेन युष्माभिः सर्वाचारः सुशोभनः ।
त्यक्ता (क्तो) ऽतः सर्वधर्मोपि मुनिगृहस्थगोचरः ॥८६॥
प्रासुकं प्रासुकं कृत्वा सर्ववस्तुकदम्बकम् ।
भवाद्भिश्च क्रियाहीनैः सर्वं ह्यंगीकृत ननु ॥८७॥
भक्ष्याभक्ष्यविवेकोपि युष्माकं नास्ति किंचनः ।
दृश्यते श्वपचो यद्वत् तद्वत् यूयं न सशयः ॥८८॥
ज्ञातिहीनाःक्रियाहीनाः जिनबिम्बस्य निन्दकाः ।
यूयं च सर्वहीनाः स्युर्यथा म्लेच्छाः तथा खलु ॥८९॥
खाद्याखाद्यस्य भेदो न म्लेच्छानां च खलात्मनाम् ।
यथा स्यात् किंचनो लुंका युष्माकमपि सो नहि ॥९०॥
स्वस्वधर्मे रताः सर्वे स्वस्वदेवस्य पूजकाः ।
यूयं हि जिनधर्मस्य नाशकाः स्युः न संशयः ॥९१॥

× × ×

तनोः हि नवद्वाराः स्युः भो लुंका तान् कथं खलाः ।
बन्धयथ सुचेलेन जीवानां रक्षणाय नो ॥९४॥
बन्धयथ नवद्वारान् लुंकाः त्यजथ भो खलाः ।
वक्त्रस्य बन्धनं नूनं यूयं सत्या यदि खलु ॥९५॥

वासोयोगात्समीरस्य कीलालस्य च निश्चयात् ।
जीवोत्कराश्च आस्ये वै उत्पद्यन्ते खलाशयाः ॥९६॥
तत्रैव ते च म्रियंते सदाकालेत्र संशयः ।
नो यूयं पश्यथ लुंकाः ग्रंथेषु सकलेषु च ॥९७॥
अतो यूयं च प्रत्यक्षं निशाचरसमाः खलाः ।
जीवानां भक्षणात् स्युःहि ते हि जीवस्य भक्षकाः ॥९८॥
रक्षथ नैव रात्रौ च प्रासुकं चोदकं खलु ।
यदि स्यान्मलमूत्रादेरुत्पत्तिः मां खलाः स्फुटं ॥९९॥
वदथ कुरुथ किं च तत्र तत्शुद्धये तदा ।
किं न कुरुथ भो लुंका यदि श्वपचसोपमाः ॥१००॥
कथं जपथ नोकारं सामायिकं पठथ च ।
अशुद्धे सर्व व्यर्थं स्यात् शुचिःसर्वत्र सम्मता ॥१०१॥
ईदृश्यं निद्यकर्म च नो कुर्वन्ति खलाः स्फुटं ।
मातंगापि क्रियाहीना व्रतकर्मविवर्जिताः ॥१०२॥
जनंगमोपमा यूय किं स्युः भो जिनानिन्दकाः ।
नो संति तत्समाप्येव तद्धीना नात्रसंशयः ॥१०३॥
भो म्लेच्छाः ईदृशं किं स्यात् साधुजनस्य लक्षणं ।
वयं हि साधवो लोके इत्यसत्यं वदथ मा ॥१०४॥
अतो भो कुक्रियां त्यक्त्वा क्रियां शुद्धा सुखास्पदां ।
पालयत प्रयत्नेन जिनवक्त्रसमुद्भवाम् ॥१०५॥
यायाथ कुगतिं मूढा यूयमाचारवर्जनात् ।
मा भजथाविवेकं च धर्ममार्गस्य नाशकाः ॥१०६॥

जिनबिम्बं जिनागारं जिनसिद्धान्त-पुस्तकं ।
जिनमतस्थं दयाभावं जिनयात्रां जिनोत्सवम् ॥१०७॥
जिनधर्मं प्रभोर्वाचं धर्माब्धिसोमसदृशं ।
इत्याद्यान् ये च लोकाश्च निन्दयन्त्येव ते मताः ॥१०८॥
म्लेच्छाश्च जिनधर्मस्य नाशकाश्च जिनागमे ।
इति ज्ञात्वा न कर्तव्या निन्दा बिम्बस्य भो खलाः ॥१०९॥
इत्युपदेशमस्माभिर्दत्तो भवतां खलु ।
अहंकारमदान्नैव तद्धि भद्रार्थमेव च ॥११०॥
निकोतेः यदि वांछा चेत् युष्माकं स्यात्खलाः स्फुट ।
तदा कुरुथ बिम्बस्य निन्दा धर्मस्य नाशिनीम् ॥१११॥

—पृष्ठ २०२ से २०६

इन वाक्योंमें भगवान् ढूंढियासे कहते हैं—"अरे मूर्खो ! हंस हंस ही होते हैं और सुन्दर बगुले, बगुले ही, परन्तु तुम तो बगुलोंके बराबर भी ध्यानी नहीं हो । तुम दुष्टात्माओंके तो क्रियाका लेशभी नहीं है, और जहां क्रियाशुद्धि नहीं वहां धर्म भी नहीं होता । मूढो ! तुम्हारे तो प्रत्यक्ष म्लेच्छाचार दिखलाई पड़ता है, अतः तुम भ्रष्टाचारके पालने से म्लेच्छोंके समान हो । जिह्वास्वादके वशवर्ती होकर तुमने सारा शोभनाचार त्याग दिया है और इसलिये मुनिगृहस्थ-सम्बन्धी सारे धर्मसे ही तुम हाथ धो बैठे हो । तुम क्रियाहीनोंने प्रासुक प्रासुक करके सारी वस्तुओं को ही अंगीकार कर लिया है । तुम्हारे भक्ष्याभक्ष्य का कुछभी विवेक नहीं है । जिसतरह चाण्डाल दिखाई देता है उसीतरह तुमभी दिखाई पड़ते हो, इसमें सन्देह नहीं । तुम जिनबिम्बकी निन्दा करने वाले जाति-

हीन हो, क्रियाहीन हो और सबमें हीन (नीच) हो, जैसे म्लेच्छ होते हैं वैसे ही निश्चय से तुम हो। म्लेच्छोंके और दुष्टात्माओंके जैसे खाद्य अखाद्य का कुछ भेद-विचार नहीं होता वैसेही लुंकाओ! तुम्हारे भी खाद्य अखाद्यका विचार नहीं है। सब लोग अपने अपने धर्ममें लीन और अपने अपने देवके पूजक हैं परन्तु तुमतो निःसन्देह जिनधर्मके नाशक ही हो। × × × हे लुंकाओ! शरीरके नवद्वार होते हैं, तुम अधमजन जीवोंकी रक्षाके लिये उन सबको कपड़ेसे क्यों नहीं बांधते? हे लुंकाओ! खलपुरुषो! यदि तुम सच्चे हो तो या तो नवोंद्वारोंको कपड़ेसे बांधो और नहीं तो मुख पर पट्टी बांधना भी छोड़ो। दुरात्माओ! वस्त्र, वायु और थूकके योगसे जीवों के समूह मुखमें उत्पन्न हो जाते हैं और सदा वहीं मरते रहते हैं, इसमें संशय नहीं है। तुम सब ग्रन्थोंमें इस बातको देख सकते हो। अतः दुष्टो! जीवोंके भक्षणसे तुम साक्षात् निशाचरों (राक्षसों) के समान हो। निशाचर भी जीवभक्षक होते हैं। तुम रातको प्रासुक जल नहीं रखते। यदि उस समय मलमूत्रादिकी उत्पत्ति हो तो दुर्जनो! मुझे बतलाओ उसकी शुद्धिके लिये तब क्या करते हो? यदि कुछ नहीं करते हो तो चाण्डाल की समान हुए कैसे नमोकार मंत्रका जप करते और सामायिक पाठ पढ़ते हो? अशुद्ध अवस्था में तो सबकुछ करना व्यर्थ है, सब जगह पवित्रता को माना गया है ॐ।

ॐ यहां शायद भगवान को अपने शासनके और ग्रन्थकार को देवपूजा के निम्न वाक्यों का स्मरण ही नहीं रहा:—

अपवित्रः पवित्रो वा सुस्थितो दुःस्थितोऽपि वा।
ध्यायेत्पंचनमस्कारं सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥१॥
अपवित्रः पवित्रो वा सर्वावस्थांगतोऽपि वा।
यः स्मरेत्परमात्मानं स बाह्याभ्यन्तरे शुचिः ॥२॥

पापियो ! ऐसा निंद्यकर्म ‡ तो व्रतकर्म विवर्जित और क्रिया-हीन मातंग (चाण्डाल) भी नहीं करते हैं। अरे जिननिन्दको ! तुम चाण्डालोंकी बराबर भी कैसे हो सकते हो, तुम तो उनके बराबर भी नहीं हो, किन्तु निःसन्देह उनसे हीन हो। अरे म्लेच्छो ! यह क्या साधुजनका लक्षण है ? हम साधु हैं—ऐसा झूठ मत बोलो। अरे ! कुक्रियाको छोड़कर जिनभाषित शुद्ध सुखकारी क्रियाका यत्नसे पालन करो। मूढो ! तुमने आचार त्याग दिया है इससे दुर्गतिको जाओ; धर्ममार्गके नाशको ! अविवेकको मत धारण करो। जो लोग जिनबिम्ब, जिनमंदिर, जिनसिद्धान्तपुस्तक, जिनमतस्थ, दयाभाव, जिनयात्रा, जिनोत्सव, जिनधर्म और प्रभुके वचना-दिकी निन्दा करते हैं, वे जिनागममें म्लेच्छ तथा जिनधर्मके नाशक माने गये हैं। ऐसा जानकर, अरे दुष्टो ! बिम्बकी—मूर्ति-की—निन्दा नहीं करनी चाहिये। हमने जो आपको यह उपदेश दिया है वह अहंकारमदसे नहीं दिया किन्तु हितके लिये ही दिया है। यदि दुष्टो ! तुम्हारी निगोद जाने की इच्छा है तो खूब मूर्ति की निन्दा करो, जो धर्मका नाश करने वाली है।"

पाठकजन ! देखा कितनी भारी गालियोंकी यह वर्षा है ! पदपद पर और बातबातमें ढूँढिया भाइयों के प्रति कितना निर्हेतुक अपशब्दोंका व्यवहार किया गया है !! कैसा दांत पीस पीसकर उन्हे कोसा गया है !! और उनपर कैसे नीचसे नीच आक्रमण किये गये हैं !!! भगवान महावीरका परम संयत मुख और ये शब्द !—ये कषायसे पूरित और संतप्त हृदयके उद्गार !! क्या कोई महावीरका सहृदयभक्त इन्हे भगवान

‡ यहां 'ईदृश निन्द्यकर्म' का अर्थ अनुवादकने "अपने मूत्र से अपनी शरीर की शुद्धि" दिया है, जो बिलकुल मनगढ़न्त तथा शरारत-से भरा हुआ है !!

महावीर के मुखसे निकलेहुए शब्द मान सकता है? अथवा कोई विवेकी पुरुष भाषासमिति और वचनगुप्तिकी चरमसीमा-को पहुँचेहुए एक सर्वज्ञ वीतराग तथा निर्मोही महात्माकी ओर से उसीके उपासकोंके प्रति ऐसी सभ्य और शिष्ट वचनवर्गणाकी कल्पना करसकता है? कदापि नहीं। यह सब ग्रन्थकार की साम्प्रदायिक कट्टरताके कुपरिणामस्वरूप उसकी निजी लीला, चालाकी, जालसाज़ी और धोकादेही है जो उसने अपनी तथा अपने जैसों की कृतिको भगवान् महावीर जैसे परम संयमी और परम वीतरागी आप्तपुरुषोंकी कृति बतलाया है, और इस तरह अपनी मूर्खता, कषायवासना एवं स्वार्थसाधनाके वश उन्हें सभ्यसंसारमें नीचे गिराने आदिकी जघन्य चेष्टा की है। उसे कषायावेश एवं झूठकी बुनावनीकी धुनमें इतनीभी खबर नहीं रही कि वह भगवान महावीरके मुखसे ढूंढियों की उत्पत्ति-का वर्णन भूतकालकी क्रियाओंमें कराने और भगवानके समव-सरणमें ढूंढियोंको बिठलाकर उनके साथ भगवानका साक्षात् संवाद करानेसे भगवान् महावीर और राजाश्रेणिकको कितना आधुनिक—विक्रमसंवत् १५२७ से भी कितने अधिक पीछेका—ठहरा रहा है और इसलिये पब्लिकके सामने अपने झूठका कितना पर्दा फ़ाश कर रहा है! सच है "दरोग़गोरा हाफ़िज़ा न बाशद"—अर्थात् झूठेकी स्मरणशक्ति ठीक काम नहीं देती। उसे अपने कथन के पूर्वापर सम्बन्धका, उसके गुणदोष एवं परिणामका यथेष्ट भान नहीं रहता और इसलिये वह यद्वातद्वा जो जीमें आता है कह डालता है। ठीक यही हालत ग्रन्थकार पं० नेमिचन्द्र की हुई जान पड़ती है। उसे इस प्रकरणके कहीं बिलकुल अन्तमें जाकर भविष्य कथनकी बातका कुछ स्मरण हुआ है और इसीलिए उसने बिना पूर्वापरका सम्बन्ध ठीक जोड़े नीचे लिखे भविष्यकथनके दो श्लोक भी, मगधेश्वर राजा

श्रेणिकको सम्बोधन करतेहुए, भगवानके मुंहसे कहला दिये हैं :—

ईदृशाः धर्ममार्गस्य नाशकाश्च खलाशयाः ।

ज्ञानलेशोज्झिताः क्रूरा भविष्यन्ति न संशयः ॥१२१॥

भव्यभावयुता स्वल्पसंख्याढ्या मगधेश्वर !

विसंख्याढ्या नराः तस्मिन् भविष्यन्त्येव नेतराः ॥१२२॥

यहां पहले श्लोकमें प्रयुक्त हुआ 'ईदृशाः' (इसप्रकारके) पद बहुत खटकता है और वह ग्रंथकार की नासमझी का द्योतक है, जबकि उससे ठीक पहले, ग्रन्थमें ढूंढियोंके स्वरूपका परिचायक कोई दूसरा श्लोक नहीं है और उससे भी पहले ढूंढियों के सिद्धान्तोंका खण्डन तथा उनके साथ भगवान का वादविवाद चल रहा था। इस श्लोकसे ठीक पहलेका निम्न श्लोक और भी ज्यादा बेढंगा (असंगत) है और वह ग्रंथकारकी अच्छी ख़ासी मूर्खताका द्योतक जान पड़ता है—

यत्प्रोक्ता वीरनाथेन श्रेणिकं प्रति भो बुधाः ।

भाविकालभवा वार्ता तथैव पश्यथाशुभा ॥ १२० ॥

इसमें कहा गया है कि 'हे बुधजनो ! महावीर स्वामीने श्रेणिकके प्रति जो भविष्यकाल सम्बन्धी बात कही है उसे तुम वैसी ही अशुभरूपमें देखलो।' परन्तु एक तो ढूँढियोंके सम्बन्ध में कोई बात भविष्य वर्णनाके रूपमें इससे पहले इस प्रकरणमें कही नहीं गई, दूसरे जब भगवान अभी कथन कर ही रहे हैं और अगले दोनों श्लोक उन्हीं के वाक्य हैं तब ग्रंथकारका इस तरह से बीचमें बोल उठना क्या अर्थ रखता है ? वह उसकी मूर्खता नहीं तो और क्या है ?

जान पड़ता है ग्रन्थकारने बिना सोचे समझे कितने

ही वाक्योंको इधर उधर से उठाकर भी रक्खा है और इससे उसके ग्रंथमें और भी ज्यादा असम्बद्धता, बेढंगापन तथा जालीपन आगया है। इस प्रकरणका प्रायः गद्यभाग ढूँढिया साधुओं और किसी भट्टारकके दरम्यान हुए शास्त्रार्थकी रिपोर्ट का एक अंश जान पड़ता है, जिसका अनुभव पाठकोंको नीचेके कुछ संवाद-वाक्योंसे ही हो जायगा :—

"ढूंढ्या इत्युत्तरं श्रुत्वापि स्वपक्षपालनार्थमित्यूचुः। भो सज्जनाः! भवाद्भिः यत्काथितं तत्सत्यमपि तथापि अस्माकं वाक् श्रयतां। वयं निरारंभाःस्युः अतः अस्माभिः आरम्भ-दोषेण प्रतिमायाः पूजन उत्थापितं। आरंभात् सकलजपतपः—संयमज्ञानादिसद्गुणा नश्यन्ति। यत्रारंभः तत्र किमपि धर्मो-त्पत्तिर्नास्त्येव। निरारंभेण शिवस्थानप्राप्तिरंजसा भवति। आरंभेण अनन्तशः जविराशयो म्रियन्ते। तत्पाकात् श्वभ्राब्धौ अयं प्राणी दुःखौघं भुंजति वा निगोदिषु वचनागोचरं ह्यनन्तकालपर्यतंदुऽःख भुंजत्येव।

इत्येवं कल्पोक्तं श्रुत्वा लुंकमतेभघातने केशरितुल्यः जैनागममार्गवर्धनैकादिवाकरः असत्यपक्षविभंजकः भव्याब्ज-मार्तडोपमः श्रीवीतरागप्रतिपालकः (पादक) सिद्धान्तादि-ग्रन्थवाचने सामर्थ्यधारकः पूर्वाचार्यवाक्य-प्रतिपालकः तन्मतो-त्थापनार्थमित्याह—भो लुंकाः! आरम्भनिराकरणं यूयं श्रृणुथ चित्तसमाधिना करोम्यहम्।..."

"इतिश्रुत्वापि पुनः लुंकमतधारका ढूंढ्या इत्याहुः भो

बुधोत्तमाः। सुरेन्द्राणामारम्भे पापोत्पत्तिर्नास्त्येव। पापारम्भोत्पत्तिः पुरुषकार्येषु भवेत् नात्र संशयः।

इतिकल्योक्तं श्रुत्वा जिनागमार्थज्ञायकश्चाह्–भो लुंका अस्योत्तरं यूयं श्रुणुथ। × × × पुनरारम्भ फलंश्रुणुथ-श्रीवर्धमानवन्दनार्थं श्रेणिकाभिधोभूपेन्द्रः सकलसेनया सह किमगमत् वा एकएवागमत् तत्कथय भो मतिविवर्जिताः।"

भगवान् महावीरकी समवसरण सभामें ढूँढियोंके साथ भगवानके शास्त्रार्थका ऐसा रूप नहीं हो सकता। इसमें ढूँढियों की ओर से कहे गये 'भो सज्जनाः' जैसे सम्बोधनपद और उनकी बातका उत्तर देने वाले वक्ताके लिए प्रयुक्त हुए 'लुंकमतेभघातने केशरितुल्यः' आदि विशेषणपद तथा आरंभ फलकी सिद्धिमें प्रमाण रूपसे प्रस्तुत किया हुआ श्रीवर्द्धमानकी वन्दनाको श्रेणिकके सेनासहित जाने का उल्लेख, ये सब विषय ख़ास तौर से ध्यान देने योग्य हैं और वे इस विषयपर औरभी अच्छा ख़ासा प्रकाश डालते हैं। अस्तु।

इन सब प्रमाणोंसे (प्रमाणोंके पांच गणोंसे) ग्रन्थका जालीपन भले प्रकार सिद्ध हो जाता है और किसी विशेष स्पष्टीकरण की ज़रूरत नहीं रहती। साथ ही ग्रन्थकारकी बुद्धि, योग्यता, कपटकला, कषायवशवर्तिता, उद्धतता, धूर्तता, साम्प्रदायिक कट्टरता, कलहप्रियता, और असत्यवादिता का भी कितना ही भंडाफोड़ होकर उसका बहुत कुछ वास्तविक रूप सामने आजाता है।

यहां पर मैं इतना और भी कह देना चाहता हूं कि ग्रंथकार अपनी ऐसी लीलाओं तथा प्रवृत्तियोंके कारण जैनधर्मके संस्कारोंसे प्रायः शून्य मालूम होता है। उसने यदि जैनधर्मके

स्याद्वादामृत अथवा विरोधमथनी अनेकान्तरसायनका सेवन किया होता तो उसकी कदापि ऐसी कलुषित मनोवृत्ति न होती और न वह अपने तेरहपंथी भाइयोंकी तरह ढूंढिया भाइयों परभी इस तरहसे ज़हर उगलता। उसे स्वतः यह समझमें आ-जाता कि ये लोग भी हमारी तरह जैनधर्मके उपासक हैं, उस-की मूल बातों (तत्त्वों) को मानते हैं और ये भी भगवान महावीर आदि सभी जैनतीर्थंकरों की पूजा-भक्ति करते हैं। पूजा-भक्तिका तरीक़ा कितने ही अंशोंमें समान और कितने ही अंशोंमें जुदा जुदा है, और ऐसा होना देशकालादि की परिस्थितियों की दृष्टिसे बहुत कुछ स्वाभाविक है। भक्तिमार्ग बड़ा ही विचित्र तथा गहन होता है, वह सदा सबके लिये न कभी एक जैसा रहा और न रहेगा। अतः पूजा-भक्ति-उपासना की ज़ाहिरी, फ़रूआती एवं ऊपरी बातोंमें एक दूसरेके तरीक़ों-को पूर्णतया न अपनाते और न पसन्द करते हुए भी एकको दूसरेसे घृणा करने, द्वेष रखने अथवा शत्रुता धारण करनेकी ज़रूरत नहीं है। सबको मिलकर प्रेमपूर्वक एक पिताकी संतान-के रूपमें रहना तथा एक दूसरेके उत्थानका यत्न करना चाहिए, और प्रेमपूर्वक ही एक दूसरेकी भूल, त्रुटि, गलती, अन्यथा प्रवृत्ति अथवा ग़लत तरीक़ेको सुधारना चाहिये—न कि ऐसे विषैले साहित्य द्वारा घृणा तथा द्वेषादिके भावको फैलाकरके, जिसका असर उलटा होता है।

निःसन्देह यह सब ऐसे दूषित साहित्यका ही परिणाम है जिसने परस्पर में कलहका बीज बोकर जैनधर्मके पतनका मार्ग साफ़ कर दिया है और जैनियोंकी शक्तिको छिन्न भिन्न करके उन्हें किसी भी कामका नहीं छोड़ा; प्रत्युत उनके सारे पूर्व गौरवको मिट्टीमें मिलाकर उन्हे जनताकी आंखोंमें हक़ीर (तुच्छ) बना दिया है! जो लोग जानबूझकर ऐसे साहित्यकी

सृष्टि करते, उसे अपनाते, उसकी प्रशंसा करते और उसका प्रचार करते हैं उनका हृदय ज़रूर काला है—भले ही वे ऊपरसे कितनेही साफ़ सुथरे तथा शान्त दिखलाई पड़ते हों, और इसीलिये उन्हें जैनधर्म तथा जैनसमाजका हितशत्रु समझना चाहिये।

कुछ विलक्षण और विरुद्ध बातें

यह 'सूर्यप्रकाश' ग्रन्थ, जिसका जालीपन और बेढंगापन—ऊपर अनेक प्रमाणोंके आधार पर भले प्रकार दिनकर-प्रकाशकी तरह स्पष्ट सिद्ध किया जा चुका है, औरभी बहुतसी ऐसी विलक्षण तथा विरुद्ध बातोंसे भरा हुआ है जिनका भगवान् महावीरके सत्य शासन अथवा उनके उपदेशके साथ प्रायः कोई मेल नहीं है—प्रत्युत इसके, जो उसकी प्रकृतिके विरुद्ध तथा गौरवको घटाने वाली हैं और साथही ग्रंथको औरभी ज़्यादा अप्रामाणिक, अमान्य, अश्रद्धेय एवं त्याज्य ठहरानेके लिये पर्याप्त हैं। नीचे ऐसीही कुछ बातोंका नमूनेके तौर पर दिग्दर्शन कराया जाता है। इससे पाठकों पर ग्रंथकी असलियत और भी अच्छी तरहसे खुल जायगी और उन्हें ग्रंथकारके हृदय, श्रद्धान, तत्त्वज्ञान एवं कपटाचरणका और भी कितनाही पता चल जायगा:—

१ सब पापोंसे छूटने का सस्ता उपाय!

ढूंढियों पर गालियोंकी वर्षाके अनन्तर—पूर्वोल्लेखित श्लोक नं० १२२ के बाद ही—ग्रंथमें एक व्रतप्रकरण दिया गया है, जिसका प्रारम्भ "पुनराह शृणु भूप! तेषां भाविसुखाप्तये" इन शब्दोंसे होता है, और उसके द्वारा भगवान् महावीरने पंचमकालके मानवोंकी सुखप्राप्तिके लिये राजा श्रेणिकको

कुछ व्रतविधान सुनाया है। इस प्रकरणमें अष्टान्हिक आदि व्रतोंके नाम सामान्य रूपसे अथवा कुछ विशेषणोंके साथ देकर और उनके विधिपूर्वक अनुष्ठानका फल दो तीन भवोंमें मुक्ति का होना बतलाकर 'कर्मदहन' नामके एक खास व्रतका विधान किया गया है। इस व्रतकी उत्कृष्ट विधिमें मूलोत्तर कर्म प्रकृतियोंकी संख्याप्रमाण १५६ प्रोषधोपवास एकान्तरसे और निरारम्भ करने होते हैं—अर्थात् पहले दिन मध्यान्हके समय एक बार शुद्ध भोजन, दूसरे दिन निरारम्भ अनशन (उपवास) फिर तीसरे दिन एक बार भोजन और चौथे दिन अनशन यह क्रम रहता है; भोजनके दिन पंचामृतादिके अभिषेकपूर्वक तथा जिनचरणोंमें गन्धलेपनपूर्वक सचित्तादि द्रव्योंसे पूजा की जातीहै, प्रत्येक उपवासके दिन उस २ कर्म प्रकृतिके नामोल्लेख-पूर्वक एक जाप्य † १०८ संख्या प्रमाण जपा जाता है। साथ ही, विकथादिके त्याग रूप कुछ संयमका भी अनुष्ठान किया जाता है *। यह सब बतलानेके बाद ग्रन्थमें इस व्रतके फल का वर्णन करते हुए लिखा है :—

कर्मदहनव्रतस्य फलं शृणु समाधिना।

श्रवणाच्च यत्सर्वांहाः प्रलयं यान्ति देहिनाम् ॥१७८॥

इसमें भगवान् महावीर राजा श्रेणिकको कर्म-दहन-

---

† अनुवादकने एक दिनके जाप्यका नमूना "ॐ ह्रीं मतिज्ञानावरणकर्मनाशाय नमः" दिया है!

* वह संयम विकथा, महारम्भ, स्त्रीसेवन, शृङ्गार, खट्वा-शयन, शोक, वृथापर्यटन, अष्टमद, पैशून्य, परनिन्दा, परस्त्रीनिरीक्षण, रागोद्रेकपूर्वकहास्य, रति, अरति, कुभाव, दुर्ध्यान, भोगाभिलाष, पत्रशाक और अशुद्ध दूध दही-घृतके त्यागरूप कहा गया है।

(श्लोक १६८ से १७१)।

व्रतके फलको ध्यानपूर्वक सुननेकी प्रेरणा करते हुए कहते हैं कि—'इस व्रतके फलश्रवणसे देहधारियोंके सब पाप प्रलयको प्राप्त हो जाते हैं' ! यहाँ 'सर्वांहाः' पदमें प्रयुक्त हुए 'सर्व' शब्द की मर्यादा 'सर्वज्ञ' शब्दमें प्रयुक्त हुए 'सर्व' शब्दकी मर्यादासे कुछ कम नहीं है—वह जैसे त्रिकालवर्ती अशेष पदार्थोंको विषय करने वाला कहा जाता है वैसेही यह 'सर्व' शब्दभी भूत-भविष्यत्-वर्तमानकाल सम्बन्धी सब प्रकारके संपूर्ण पापों को अपना विषय करने वाला समझना चाहिये । उन सब पापोंका इस फलश्रवण से उपशम या क्षयोपशम होना नहीं कहा गया बल्कि एकदम प्रलय (क्षय) होजाना बतलाया गया है और इसलिये इस कथनका साफ़ फलितार्थ यह निकलता है कि ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय, अन्तराय, असातावेदनीय अशुभ नाम, अशुभ आयु, और अशुभ गोत्र नामकी जो भी पापप्रकृतियाँ हैं वे सब इस व्रतके फलश्रवण-मात्रसे क्षयको प्राप्त हो जाती हैं ! फिर तो मुक्तिकी उसी जन्म में गारण्टी अथवा रजिस्टरी समझिये !

पाठकजन ! देखा, कितना सस्ता और सरल यह उपाय भगवानने सब पापोंसे छूटने और मुक्तिकी प्राप्तिका बतलाया है !! पाप-क्षयका इससे अधिक सुगम उपाय आपको अन्यत्र कहींसे भी देखनेको नहीं मिला होगा । इस गुह्य रहस्यका ग्रंथकार परही अवतार भगवानकी ख़ास मेहरबानीका फल जान पड़ता है !!! अच्छा होता, यदि भगवान दि० तेरहपंथियों और ढूंढियोंको इस व्रतका फल पहलेही सुना देते, जिससे वे बेचारे सर्व पापोंसे मुक्त हो जाते और फिर भगवान् को उनके साथ लड़ने झगड़ने तथा उनपर गालियोंकी वर्षा करने की ज़रूरतही न रहती ! शायद कोई तार्किक महाशय यहां यह कह बैठें कि चूंकि भगवान्को ख़ास तौरसे अपने अभिषेक-

पूजनादिके लिये उन्हें प्रेरित करना था वे इस व्रतका फल उन्हें पहलेही कैसे सुना देते! परन्तु तब तो उन्हें व्रतफल सुननेका ऐसा माहात्म्य बतलानाही नहीं चाहिये था। इसे मालूम करके तो लोगोंको प्रवृत्ति उस कर्मदहनव्रतके अनुष्ठान की भी नहीं रह सकती, जिसमें अनेक प्रकारसे अपने अभिमत पंचामृताभिषेक, जिन-चरणों पर गन्धलेपन और सचित्त द्रव्यों से पूजनकी प्रेरणा अथवा पुष्टि की गई है। क्योंकि उसको उत्कृष्टविधिका—और इसलिये अधिकसे अधिक—फल तो अगले जन्ममें विदेहक्षेत्रका सम्राट होकर, जिनदीक्षा लेकर और अनेक तप तप कर मुक्तिका होना लिखा है, और इस व्रत-फलके श्रवणसे बिना किसी परिश्रमके ही सब पापोंका नाश होकर उसी जन्ममें मुक्ति हो जाती है। इससे व्रत करने की अपेक्षा उसका फल सुननाही अच्छा रहा! फिर ऐसा कौन बुद्धिमान है जो सिद्धिके सरलसे सरल एवं लघु मार्गको छोड़कर कष्टकर और लम्बे मार्गको अपनाए? ग्रंथकारको इस मार्मिक शिक्षा और कर्मफलके नूतन आविष्कार पर तो लोगोंको सारे धर्म-कर्मको छोड़कर एक मात्र कर्मदहनव्रतके फलको ही सुन लेना चाहिये! बस, बेड़ा पार है!! इससे सस्ता और सुगम उपाय दूसरा और कौन हो सकता है?

ग्रंथमें एक स्थान पर उन मनुष्योंको जो सारे जन्म पापमें ही मग्न रहते हैं, इसी व्रतके कारण शिवपदकी प्राप्ति होना लिखा है:—

आजन्मपापमग्ना हि नराः यास्यन्ति निश्चयात्।
अस्यैव कारणात् भूप! शिवास्पदे च शाश्वते ॥१२॥

—पृष्ठ २५४

परन्तु हमारे ख़यालसे तो, उक्त श्लोक नं० १७८ की

मौजूदगीमें, ऐसे महापापी मनुष्योंको भी व्रतकी उत्कृष्ट विधि के अनुष्ठानरूप इस द्राविड़ी प्राणायामकी ज़रूरत नहीं है—वे इस व्रतके फलको सुनकर सहजही में सब पापोंसे छूट कर मुक्तिको प्राप्त कर सकते हैं !

यहां पर मुझे यह प्रगट करते हुए बड़ा ही खेद होता है कि जो गुप्त रहस्यकी बात किसी तरह भगवान्के मुखसे अथवा ग्रंथकारके क़लमसे भव्यजीवोंके कल्याणार्थ निकल गई थी उसका प्रगट होना अनुवादक महाशय पं० नन्दनलाल (ब्र० ज्ञानचन्द्र) जी—वर्तमान क्षुल्लक ज्ञानसागरजी—को सहन नहीं हुआ और इसलिए उन्होंने उसे छिपानेकी चेष्टा करते हुए उक्त श्लोक नं० १७८ का अर्थ ही नहीं दिया !! संभव है कि उन्हें इसमें भगवान् की या ग्रन्थकार की भूल मालूम पड़ी हो अथवा अपनी अभीष्ट पंचामृताभिषेकादि क्रियाओंको बाधा पहुँचनेका कुछ भय उपस्थित हुआ हो और इसीसे उन्होंने उसपर पर्दा डालना उचित समझा हो !!! परन्तु कुछ भी हो, सत्यकी प्रतिज्ञा को लिए हुए व्रती श्रावक होकर और एक अच्छे अनुवादककी हैसियत से उन्हें ऐसा कूटलेखन तथा कपटाचरण करना उचित नहीं था ! कोई भी सहृदय धार्मिक पुरुष उनकी इस निरंकुशता और कपटकलाका अभिनन्दन नहीं कर सकता ।

२ धर्म और धनकी विचित्र तुलना !

कर्मदहनव्रतकी विधि, और व्रतके फलको सुनकर राजा श्रेणिकने भगवान्से पूछा कि—'आपने तो पंचमकालके मनुष्यों को निर्धन बतलाया है, फिर वे बिनाधनके व्रत कैसे करेंगे ? तब तो व्रतका वह फल उनके लिये नहीं बनता।' उत्तरमें भगवानने कहा—'राजन् ! यदि पूर्वपापोंके उदयसे घरमें दरिद्र हो तो कायसे प्रोषधसहित दुगुना व्रत करना चाहिये।' यथाः—

भवद्भिः कथिता मर्त्या निःस्वा हि पंचमोद्भवाः ।
करिष्यन्ति कथं वृत्तं तद्भूते नास्ति तत्फलम् ॥३०॥

गृहे यदि दरिद्रः स्यात्पूर्वपापो दयात् नृप ।
कायेन द्विगुणं कार्यं व्रतं पोषधसंयुतम् ॥३१॥

यहां पर इतना और भी जानलेना चाहिये कि इस प्रश्नोत्तरसे पहले, ग्रंथमें व्रतकी जो उत्कृष्टविधि बतलाई गई है और जिसका संक्षिप्त परिचय नम्बर १ में दिया जाचुका है उसके अनुसार धनके खर्च का काम सिर्फ अभिषेकपुरस्सर पूजनके करने और पारणाके दिन एकपात्रको भोजन करानेमें ही होता है, जिसका औसत अनुमान २००) रु० के करीब बैठता है—अर्थात् १५६ परणाओं के दिन पात्रोंका भोजन खर्च ४०) रु० और १५७ दिनका अभिषेक-पूजन-खर्च १६०) रुपये। और इसलिये उक्त व्यवस्थासे यह स्पष्ट है कि यदि कोई मनुष्य यह सब खर्च न उठाकर शुद्ध प्रासुकजलसे ही भगवानका अभिषेक कर लिया करे और "*वचो विग्रहसकोचो द्रव्य पूजा निगद्यते। तत्र मानससंकोचो भावपूजा पुरातनैः॥*" इस पुरातनविधिके अनुसार शरीर तथा बचनको परमात्माके प्रति एकाग्र करके हाथजोड़ने, शिरोनति करने, तथा स्तुतिपाठ पढ़नेरूप द्रव्यपूजा और ध्यानादि रूपसे मनको एकाग्र करके भगवानकी भावपूजा करलिया करे; साथ ही अपने भोजनमें से एक ग्रास ही पहिले दानार्थ निकाल दिया करे तो इस प्रकारके पूजनादिके साथ १५६ प्रोषधोपवास और १५७ एकाशन करने तथा विकथादिके त्यागरूप उस सारे संयमका अनुष्ठान करनेपर भी, जिसका पीछे एक फुटनोटमें उल्लेख किया गया है, वह इस व्रतके फल को नहीं पासकेगा! फल-प्राप्तिके लिये उसे ३१३ दिनका उतना

ही धर्माचरण फिरसे करना होगा !! अर्थात् उसके इस फिरसे किये जानेवाले ३१२ दिनके धर्माचरणका मूल्य २००) के करीब है !!!

पाठकजन ! देखा, धर्माचरणके साथ धनकी यह कैसी विचित्र तुलना है ! निर्ग्रन्थ मुनियोंके पास तो धन होता ही नहीं— भले ही भट्टारकलोग धन रक्खा करें—और उनके लिये भी इस व्रतका विधान किया गया है, तब उन निर्धन महात्माओंको भी दुगुना व्रत करना पड़ेगा !!—उनकी ३१२ दिन तक महाव्रतरूप परिणति भी उस फलको सिद्ध नहीं करसकेगी !!! बड़ी ही विचित्र कल्पना है ! समझमें नहीं आता, इस व्यवस्थाको व्रतविधान कहा जाय या दण्डविधान अथवा एक प्रकारकी दुकानदारी !! धनको इतना महत्व दिया जाना जैनधर्मकी शिक्षाके नितान्त बाहर है।

भगवान महावीरके शासनमें तो आकिंचिन्यधर्म अथवा अपरिग्रहत्वको खास महत्व प्राप्त है और सिद्धिका जो कार्य ऐसे त्यागी धर्मात्माओंसे सहजहीमें बन सकता है वह धनाढ्योंसे लाखों रुपये दानपूजामें खर्च करनेपर भी नहीं बनता। मालूम होता है इस सब व्यवस्थाके नीचे— उसकी तहमें—पंचामृतादिकके अभिषेक, जिनप्रतिमापर गन्धलेपन, सचित्तादिद्रव्योंसे पूजन और भट्टारकों को कुछ प्राप्ति करानेकी मनोवृत्तिही काम कर रहीहै। इसीसे ग्रंथमें धनाढ्यो को प्रकारान्तरसे कुछ डांटाभी गया है—कहा गयाहै कि 'येलोग व्रतको उत्थापना करेंगे, ऐसे पापियोंका धन पुत्र-पुत्रियोंके विवाहों और मृतकादि की क्रियाओंमें तो खर्च होगा, पापकार्योंमें तो लगेगा परन्तु धर्मकार्योंमें व्यय नहीं होगा, धर्मकार्योंसे ये लोग परान्मुख रहेंगे। बुधजनों को सदा चाहिये कि वे पूजा और पात्रदानादिकमें, जोकि जिनेन्द्र भगवान्के कार्य

हैं (!) कृपणताको धारण न करें—वह अनेक दुःखोंकी दाता ❀ है। पिछली बातका सूचक वाक्य इस प्रकार है :—

भो बुधाः ! जिनकार्येषु इज्यापात्रादिषु सदा।

कृपणत्वं भजध्वं मा ह्यनेकदुःखदायकम् ॥ ४० ॥

आगे चलकर इस मनोवृत्तिने और भी विशेष रूप धारण किया है। ग्रन्थकारको उद्यापनकी बात याद आ गई और इसलिये उसने व्रतकी सारी विधि तथा फलकी बात हो चुकने के बाद और यहाँ तक कहे जानेके बाद भी कि—"*कर्मदहन व्रतस्य विधिश्च कथितो मया। करिष्यति सुभावेन इदं यास्यति सोऽव्यये ॥*" (४३) उद्यापनकी तान छेड़दी है ! † और उसके विषयमें भगवान्से कहला दिया है कि—'व्रतकी पूर्णता पर व्रतियोंको व्रतफलकी सिद्धिके लिये ‡ हर्षके साथ श्रीजिनेन्द्रकी

❀ एक स्थानपर इसी प्रकरणमें पूजा तथा पात्रको भोजनदान न करके भोजन करनेवाले गृहस्थको निश्चयसे नरकके दुःखों का भोगने वाला लिखा है ! (पृ० २२०)

† अनुवादक महाशय इस विषयमें ग्रन्थकारसे भी दो कदम आगे जान पड़ते हैं; क्योंकि उन्होंने इससे भी पहले ग्रन्थमें उद्यापनकी बात छेडी है—अर्थात् ३१ वे श्लोकका अर्थ देते हुए 'गृहे यदि दरिद्रः स्यात्' का अर्थ "यदि दरिद्रताके कारण व्रतका उद्यापन करनेकी शक्ति न हो" ऐसा कर दिया है ! जब कि वहां उद्यापनका कोई प्रसंग ही नहीं था !!

‡ यदि उद्यापनके विना व्रतफलकी सिद्धि ही नहीं होती तो ग्रन्थकारको व्रतफलका विधान उद्यापन-विधानके बाद करना चाहिये था, परन्तु ऐसा नहीं किया गया और इसलिये यह कहना ठीक होगा कि ग्रन्थकारको उद्यापनकी बात बादको याद आगई है और वह व्रत-विधिके अतिरिक्त है।

प्रतिष्ठा करानी चाहिये, चतुर्विध संघको शिवप्राप्तिके लिये यथायोग्य दान देने चाहियें और नगरों तथा ग्रामोंके जिन-मन्दिरोंमें मनोहर छत्र, चंवर, घंटे तथा ध्वजादिक स्थापित करने चाहियें। राजन्! यह इस व्रतके उद्यापनकी उत्कृष्ट विधि आगममें शिवसुखके देने वाली मानी गई है...यथाशक्ति व्रतका उद्यापन करनाही चाहिये। यदि दारिद्रके योगसे ऐसी भी उद्यापनकी शक्ति न हो तो फिर कायसे दुगुना व्रत करना चाहिये, उससे उद्यापनके समान ही फलकी प्राप्ति होती है:—

पूर्णे याते हि व्रतस्य प्रतिष्ठा श्रीजिनेशिना।
करणीया सुमोदेन व्रतस्य फलसिद्धये ॥४४॥
चतुर्विधाय संघाय, यथायोग्यानि मोदतः।
सन्देयानि शिवाप्त्यर्थं दानानि व्रातिभिः खलु ॥४५॥
पुरेषु नगरेषु वै स्थापनीया मनोहराः।
छत्राश्च चामराः घंटाः ध्वजाद्याः जिनसद्मसु ॥४६॥
उत्कृष्टोऽय विधिर्भूप! शिवशर्मप्रदायकः।
व्रतस्योद्यापनस्यास्य स्यात्खलु आगमे मतः ॥४७॥
यथाशक्त्या करणीयो व्रतस्योद्यापनो नृप!

× × ×

एतादृश्यपि नास्त्येव शक्तिर्दारिद्र्ययोगतः ॥४९॥
अतो हि कायतो भव्याः कुरुध्वं द्विगुणमिदं।
तत्समं हि फलाप्तिश्च भवतामपि संभवेत् ॥५०॥

वस्तुतः उद्यापनादिकी ये सब बाते भट्टारकीय शासन से सम्बन्ध रखती है। भट्टारकोंको उद्यापनोंसे बहुत कुछ प्राप्ति

हो जाती थी और उनके अधिकृत मन्दिरों में बहुतसा सामान पहुँच जाता था, जिसके आधार पर वे खूब आनन्दके तार बजाते थे। इसीलिये उन्होंने अनेक व्रतोंके साथ उद्यापनकी बातको जोड़ दिया है। दुगुने व्रतके भयसे समर्थ लोग उद्यापन करने लगे; धनाढ्य स्त्री-पुरुषोंसे तो थोड़ेसे व्रतोंका बनना भी मुशकिल होता है, फिर दुगुने व्रतोंकी तो बात ही दूर है, और इसलिये उनके द्वारा, अपनी मानमर्यादाकी रक्षा करते हुए, अच्छी बड़ी स्केल (बड़े परिमाण) में उद्यापन होने लगे और उनसे भट्टारकों तथा उनके आश्रितोंका कितना ही काम सधने लगा। इस तरह उद्यापनकी बातका प्रचार हुआ। अन्यथा, व्रतोंके साथ अनिवार्य रूपसे उद्यापन करने, और न करने पर दण्डस्वरूप दुगुने व्रत करनेकी बातको भगवान महावीरके शासनमें कोई स्थान नहीं है और न प्राचीन आगमग्रंथोंमें ही उसका कहीं उल्लेख पाया जाता है। अपने व्रतकी समाप्ति पर उद्यापनादि रूपसे कोई उत्सव करना या न करना यह सब व्रतियोंकी इच्छा एवं शक्ति पर निर्भर है—व्रतविधान और उसके फलके साथ उसका कोई ख़ास सम्बन्ध नहीं है। इसी तरह अभिषेकपूजनकी ग़रज़ अथवा उद्देश्यसिद्धिके लिये पंचामृतादिक अभिषेकको अपनाना और केला अंगूर अनार तथा लड्डू-फेनी-पकवान जैसे द्रव्योंसे पूजन करनाभी कोई लाज़िमी बात नहीं है। पूजनादिकी उद्देश्यपूर्ति दूसरे प्रकारसे भी की जा सकती है और कहीं अधिक अच्छे रूपमें की जा सकती है, जिसकी कुछ सूचना ऊपर की जा चुकी है। अतः पूजनादिक और उद्यापनमें धन न ख़र्च करने वालोंके लिये दुगुने व्रतकी इस व्यवस्थाको भट्टारकीय लीलाका ही एक परिणाम समझना चाहिये।

३ ध्यान और तपका करना वृथा !

व्रतप्रकरणके बाद ग्रन्थमें 'सम्मेदाचल' नामका एक प्रकरण दिया है और उसमें श्रीसम्मेदशिखरकी यात्राका अद्भुत माहात्म्य बतलाते हुए ध्यान और तपकी बुरी तरहसे अवगणना की गई है !—'श्मशान भूमियों और पर्वतोंकी गुफादिकोंमें करोड़ पूर्व वर्ष पर्यन्त किये हुए ध्यानसे भी अधिक फल सम्मेदशिखरके दर्शनसे होता है !' इतना ही नहीं कहा गया, बल्कि 'पंचमकालमें तप और ध्यानकी सिद्धि नहीं होती अत' सम्मेदशिखरकी यात्रा ही सर्वसिद्धिकी करने वाली है' यहाँ तक भी कह डाला है !! और इस तरह आजकलके लिये ध्यान और तपका करना बिलकुल ही वृथा ठहरा दिया है !!! दो क़दम आगे चल कर तो स्पष्ट शब्दोंमें इन दोनोंका निषेध ही कर दिया है और भव्यजनोंके नाम यह आज्ञा जारी करदी है कि 'तपोंके समूहको और ध्यानोंके समूहका मत करो किन्तु जीवनभर बार बार सम्मेदशिखरका दर्शन किया करो !! उसीके एक मात्र पुण्यसे दूसरे ही भवमें निःसन्देह शिवपदकी प्राप्ति होगी'। यथाः—

कोटिपूर्वकृतं ध्यानं श्मशानाद्रिगुहादिषु ।
तदधिकं भवत्येव फलं तद्दर्शनात् नृणाम् ॥१३॥
नैवसिद्धिः तपस्योच्चैः (!) ध्यानस्यैव कदाचन ।
तस्मिन्काले ह्यतो भूप ! सा यात्रा सर्वसिद्धिदा ॥१४॥
मा कुरुध्वं तपोवृन्दं भो भव्याः ! ध्यानसंहतिम् ।

× × ×

समं प्रत्येकवारं च आमृत्यु तस्य दर्शनम् ॥१७॥

भजध्वं तेन पुण्येन केवलेन शिवास्पदे ।
यास्यथ नात्र संदेहो द्वितीये हि भवेऽव्यये ॥१८॥

यह सब कथन जैनधर्मकी शिक्षासे कितना बाहर है, इसे बतलानेकी ज़रूरत नहीं । सहृदय पाठक सहज ही में इसकी निःसारताका अनुभव कर सकते हैं । खेद है कि ग्रंथकारने इसे भी भगवानके मुखसे ही कहलाया है ! उसे यह ध्यान नहीं रहा कि मैं इस ग्रंथमें अन्यत्र कितनी ही बार इन दोनोंके करनेकी प्रेरणा तथा इनके सफल अनुष्ठानका उल्लेख भी कर आया हूं !! और न यही ख़याल आया कि जिस ध्यान और तपके माहात्म्यसे सम्मेदशिखर पूज्यताको प्राप्त हुआ है, उसीकी मैं इस तरह अवगणना तथा निषेध कर रहा हूँ !! अथवा प्रकारान्तरसे मुनिधर्मको भी उठा रहा हूं !!! हाँ, इस प्रकारकी शिक्षा भट्टारकोंके खूब अनुकूल है—उन्हें राजसी ठाठोंके साथ मौजमज़ा उड़ाना है, ध्यानादिके विशेष चक्करमें पड़ना नहीं है ।

४ मुक्तिका दूसरा कोई उपाय नहीं !

ग्रंथमें, सम्मेदशिखरके दर्शनमाहात्म्यका वर्णन करते हुए, एक श्लोक निम्न प्रकारसे दिया है, जिसमें राजा श्रेणिक को सम्बोधन करते हुए कहा है कि 'इस (पाँचवें) कालमें मानवोंके लिये सम्मेदशिखरके (उसके दर्शनके) सिवाय शिव का—मुक्तिका—दूसरा और कोई उपाय नहीं है:—

अस्मिन्काले नराणां च मतो भो मगधाधिप !
श्रीमच्छिखरसम्मेदान्नान्योपायः शिवस्य वै ॥२६॥

यह कथन जैनसिद्धान्तों के बिलकुल विरुद्ध है; क्योंकि तत्त्वार्थसूत्रादि सभी प्राचीन जैनग्रन्थोंमें, जो पंचमकालके

मनुष्योंके लिये ही लिखे गये हैं, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रको मुक्तिका उपाय (मार्ग) बतलाया है—सम्मेदशिखरकी यात्रा अथवा उसके दर्शनको किसी भी सिद्धान्तग्रंथमें मुक्तिकाउपाय नहीं लिखा। दूसरे, खुद इस ग्रंथके भी यह विरुद्ध है; क्योंकि इसी ग्रंथमें मुक्तिके दूसरे उपाय भी बतलाये हैं। उदाहरणके तौर पर कर्मदहन आदि व्रतोंको ही लीजिये, जिनसे द्वितीयादि भवमें मुक्तिका प्राप्त होना लिखा है—इस यात्रासे भी द्वितीयादि भवमें ही मुक्तिकी प्राप्ति होना बतलाया है। फिर ग्रंथकारका यहां भगवानके मुखसे यह कहलाना कि 'मुक्तिका दूसरा कोई उपाय नहीं' कितनी अधिक नासमझी तथा अविवेकसे सम्बन्ध रखता है, इसे पाठक स्वयं समझ सकते हैं। यदि शिवका—मुक्ति अथवा कल्याणका—दूसरा कोई उपाय नहीं है—सम्यग्दर्शनादिक भी नहीं—तब समझमें नहीं आता कि इस ग्रंथके उपासक मुनिजन भी क्यों व्यर्थके तप, जप, ध्यान, संयम और उपवासादिका कष्ट उठा रहे हैं! उन्हें तो सब कुछ छोड़-छाड़कर एक मात्र सम्मेदशिखरका दर्शनही करते रहना चाहिये !!

५. भव्यत्वकी अपूर्व कसौटी !

कोई जीव भव्य है या अभव्य, इसका पहचानना बड़ा ही मुशकिल काम है; क्योंकि कभी कभी कोई जीव प्रकटरूपमें ऊंचे दर्जेके आचारका पालन करते हुए भी अन्तरंगमें सम्यक्त्व की योग्यता न रखनेके कारण अभव्य होता है और दूसरा महा पापाचारमें लिप्त रहने पर भी आत्मामें सम्यक्त्वके व्यक्त होनेकी योग्यताको रखनेके कारण भव्य कहा जाता है। बहुत बड़े विशेष ज्ञानी ही जीवोंके इस भेदको पहचान सकते हैं। परन्तु पाठकोंको यह जान कर बड़ा ही कौतुक होगा कि

इस ग्रंथमें उन सब जीवोंको 'भव्य' बतला दिया गया है जो सम्मेदशिखर पर स्थित हों अथवा जिन्हें उसका दर्शन हो सके, चाहे वे भील-चाण्डाल-म्लेच्छादि मनुष्य, सिंहसर्पादि पशु, कीड़े मकोड़े आदि क्षुद्र जन्तु और वनस्पति आदि किसी भी पर्यायमें क्यों न हों—और साथ ही यह भी लिख दिया है कि वहां अभव्य जीवों की उत्पत्ति ही नहीं होती और न अभव्योंको उक्त गिरिराजका दर्शन ही प्राप्त होता है ! यथा:—

"यत्रत्या सकला जीवाः सिंहसर्पादिका नराः ।
भव्याः स्युः इतरेषां च उत्पत्तिर्नैव तत्र वै ॥२८॥"
"कलौ तद्दर्शनेनैव तरिष्यन्ति घना जनाः ।
भव्यराशिसमुत्पन्ना नोऽभव्याः तस्य दर्शकाः ॥३३॥"

पाठकजन ! देखा, भव्यत्वकी यह कैसी अपूर्व कसौटी बतलाई गई है ! बड़े बड़े सिद्धान्तशास्त्रोंका मथन करने पर भी आपको ऐसे गूढ रहस्यका पता न चला होगा !! यह सब भट्टारकीय शासनकी महिमा है, जिसके प्रतापसे ऐसे गुप्त तत्व प्रकाशमें आए हैं !!! इन यात्राओंके द्वारा भट्टारकों तथा उनके आश्रित पंडपुजारियोंका बड़ा ही स्वार्थ सधता था—तीर्थस्थान महन्तोंकी गद्दियां बन गये थे—इसीसे लोगोंको यात्राकी प्रेरणा करनेके लिये उन्होंने गंगा यमुनादि हिन्दूतीर्थोंके माहात्म्यकी तरह कितने ही माहात्म्य बना डाले हैं। इनमें वास्तविकता बहुत कम पाई जाती है—अतिशयोक्तियां भरी हुई हैं। सम्मेदशिखरके माहात्म्यादि-विषयमें जो कुछ विस्तारके साथ इस ग्रंथमें कहा गया है उसकी पूरी जाँच और आलोचनाको प्रकट करनेके लिए एक अच्छा खासा ग्रंथ लिखा जा सकता है। मालूम होता है, आचार्य शान्तिसागरजीका जो विशाल

संघ सम्मेदशिखरकी यात्राको कुछ वर्ष पहले निकला था वह प्रायः इस ग्रंथमें दी हुई बड़ी यात्राविधिको सामने रखकर ही निकला था और उसके द्वारा संघपति सेठजीको अगले ही जन्म में मुक्तिकी प्राप्तिका सर्टिफिकेट मिल गया है *। आश्चर्य नहीं जो भावी निश्चित सिद्धों (तीर्थङ्करों) की तरह उनकी अभीसे पूजा प्रारम्भ होजाय !! अब वे स्वच्छन्द हैं, चाहे जो करें !!!

६ सम्यग्दर्शनका विचित्र लक्षण।

इस ग्रंथमें, तेरहपंथियोंसे भगवानकी झड़पके समय, सम्यग्दर्शन अथवा सम्यग्दृष्टिका जो लक्षण दिया है वह इस प्रकार है:—

सम्यग्दृष्टेरिदं लक्ष्म यदुक्तं ग्रन्थकारकैः।
वाक्यं तदेव मान्यं स्यात् ग्रन्थवाक्यं न लंघयेत् ॥६१५॥

अर्थात्—ग्रंथकारोंने (ग्रंथोंमें) जो भी वाक्य कहा है उसे ही मान्य करना और ग्रंथोंके किसी वाक्यका उल्लंघन नहीं करना, सम्यग्दर्शनका लक्षण है—जिसकी ऐसी मान्यता अथवा श्रद्धा हो वह सम्यग्दृष्टि है †।

जिन पाठकोंने जैनधर्मके प्राचीन ग्रंथोंका अध्ययन किया है, अथवा कमसे कम तत्त्वार्थसूत्र, रत्नकरण्डश्रावकाचार

---

* "इत्यादि शुभविधिना सो वन्दितः सन् द्वितीये हि भवे तं पुरुषं मोक्षसुखं दातुं क्षमः। नात्र संशयः।" इस वाक्यके अनुसार।

† 'सम्यग्दृष्टि' शब्द सम्यग्दर्शन और सम्यग्दर्शनवान् दोनोंके अर्थमें आता है। इसीसे मूलमें प्रयुक्त हुए इस शब्दका अर्थ यहाँ उभय रूपसे किया गया है।

और पंचाध्यायी जैसे ग्रंथोंको ही देखा है उन्हें यह बतलानेकी ज़रूरत नहीं कि यह लक्षण कितना विचित्र और विलक्षण है। वे सहज ही में समझ सकते हैं कि इसमें समीचीन लक्षणके अंगरूप न तो तत्त्वार्थश्रद्धानका कोई उल्लेख है, न परमार्थ आप्त-आगम-गुरुके त्रिमूढतादिरहित और अष्टअंगसहित श्रद्धानका ही कहीं दर्शन है, न स्वानुभूतिका कुछ पता है, और न प्रशमसंवेगादि गुणोंका ही कोई चिन्ह दिखाई पड़ता है! सच पूछिये तो यह लक्षण बड़ाही रहस्यमय है, जाली सिक्कोंको चलानेकी मनोवृत्ति ही इसकी तहमें काम करती हुई नज़र आती है, और इसलिए इसे भट्टारकीय शासनके प्रचारका मूल-मंत्र समझना चाहिये। इसी पर्देकी ओटमें भट्टारक लोग और उनके अनुयायीजन सब कुछ करना चाहते है। प्राचीन ग्रन्थोंमें अपनी इष्टसिद्धिके लिये चाहे जो कुछ मिला दिया जाय और चाहे जिन बातोंको चलानेके लिये प्राचीन ऋषियों अथवा तीर्थंकरोंके नाम पर नये ग्रन्थोंका निर्माण कर दिया जाय; परन्तु उसमें कोई भी 'चूं चरा' अथवा आपत्ति न करे—बिना परीक्षा और बिना तत्वकी जांच किये ही सब लोग उन बातोंको आगमकथितके रूपमें आंख मीचकर मान लेवें, इसी मन्तव्यकी रक्षाके लिये बिना किसी विशेषणके सामान्यरूपसे ग्रन्थकार, ग्रन्थ और वाक्य शब्दोंका प्रयोग करके सम्यग्दर्शन अथवा सम्यग्दृष्टिके लक्षणका यह विचित्र कोट तय्यार किया गया है!! अन्यथा इसमें कुछ भी सार नहीं है। ग्रन्थकारोंमें अच्छे बुरे, योग्य अयोग्य सभी प्रकारके ग्रंथकार होते हैं—उनमें आचार्य, भट्टारक, गृहस्थ और प्रस्तुत ग्रंथकार तथा त्रिवर्णाचारोंके कर्ताओं जैसे धूर्तभी शामिल हैं—और ग्रंथोंमें भी अनेक कारणोंके वश सच्ची झूठी सभी प्रकारकी बातें लिखी जा सकती हैं और लिखी गई हैं। फिर बिना परीक्षा और सत्य

की जाँच किये महज ग्रन्थवाक्य होनेसे ही किसी बातको कैसे मान्य किया जा सकता है ? यदि योंही मान्य किया जाय तो फिर सम्यक्-मिथ्याका विवेक ही क्या रह सकता है ? और बिना उसके सम्यग्दृष्टि-मिथ्यादृष्टिका भेद भी कैसे बन सकता है ? अतः यह सब भट्टारकीय मायाजाल और उनकी लीलाका दुष्परिणाम है ! और उसीने ऐसे बहुतसे झूठे तथा जाली ग्रंथों को जन्म दिया है, जिनमें अनेक त्रिवर्णाचार, श्रावकाचार, संहिताशास्त्र और चर्चासागर जैसे ग्रन्थ भी शामिल हैं। और जिनमेंसे कितनों ही की परीक्षा होकर उनका स्पष्ट झूठ तथा जालीपन पबलिकके सामने आ चुका है।

यहां पर मैं इतना और भी बतला देना चाहता हूँ कि अनुवादक महाशयने उक्त श्लोकका अर्थ देते हुए लिखा है कि—"सम्यग्दृष्टीका यही एक लक्षण है कि जिसको जिनेन्द्रके आगमका श्रद्धान है।" अर्थात् आपने '*यदुक्तं ग्रन्थकारकैः वाक्यं तदेव मान्यं स्यात्*' का अर्थ "जिसको श्री जिनेन्द्रके आगमका श्रद्धान है" ऐसा किया है ! और इस तरह प्रस्तुत ग्रन्थकी स्पष्ट बात पर कुछ पर्दा डालते हुए हिन्दी पाठकोंकी आंखोंमें धूल डालनेका यत्न किया है !! मूलमें 'श्री जिनेन्द्र देव' और उनके 'आगम' का नामोल्लेख तकभी नहीं है, बल्कि सामान्यरूपसे बहुवचनान्त 'ग्रन्थकारकैः' पदके साथ 'यदुक्त' पदका प्रयोग करके सभी ग्रन्थकारोंके कथनका समावेश किया गया है। अतः यह सब भट्टारकीय शासनके अनुयायी और उसे प्रचार देनेके उत्कट इच्छुक अनुवादक महाशय (वर्त० क्षुल्लक ज्ञानसागरजी) की निरंकुशता है ! और उनकी ऐसी निरंकुशताओंसे यह सारा ग्रन्थ भरा पड़ा है !!

७ कुन्दकुन्दकी अनोखी श्रद्धाका उल्लेख !

श्रीकुन्दकुन्द मुनिराजकी विदेहक्षेत्र-यात्राका वर्णन करते

हुए, एक स्थान पर लिखा है कि विदेहक्षेत्रके चक्रवर्तीने एक दिन मुनिजीसे आहारके लिये विहारकी प्रार्थना की, जिसके उत्तरमें उन्होंने कहा—'तुम्हें क्या मालूम नहीं कि इस क्षेत्रमें मेरे आहारकी योग्यता नहीं है ?' इस पर चक्रवर्तीने योग्यता न होनेका कारण पूछा, तब कुन्दकुन्दने उत्तर दिया :—

मत्क्षेत्रे ह्यधुना रात्रिः त्वत्क्षेत्रे ह्यधुना दिवा ।
भारतजोऽप्यहं न्यादं कथं कुर्वेऽत्र दोषदम् ॥२९३॥

अर्थात्—मैं भारतमें उत्पन्न हुआ हूं, तुम्हारे क्षेत्रमें इस समय दिन होने पर भी मेरे क्षेत्रमें इस वक्त रात्रि है; तब मैं इस समय (जब कि मेरे हिसाबसे रात्रि है) यहां भोजन कैसे करूं ? वह दोषकारी है—रात्रि भोजनके दोषको लिये हुए है !!

पाठकजन ! देखा, देशकालादिके अनुसार वर्तन करने वाले एक महामुनिके द्वारा दिया हुआ यह कैसा विचित्र उत्तर है और इसमें कुन्दकुन्दकी कैसी अनोखी श्रद्धाका उल्लेख किया गया है ! जबकि विदेह क्षेत्रमें खूब दिन खिल रहा था, सूर्यका यथेष्ट प्रकाश हो रहा था, शुद्ध एवं निर्दोष भोजनकी सब व्यवस्था मौजूद थी और दूसरे महान् मुनिजन भी आहार के लिये जा रहे थे तथा भोजन कर रहे थे, तब कुन्दकुन्दका उस समयको रात्रि बतला कर भोजन करनेसे इनकार करना और उस भोजनको सदोष मानना अथवा महज़ इस वजहसे भोजन न करना कि उस समय भारतमें रात्रि है—भोजन करनेसे रात्रिभोजनका दोष लगेगा, कितना हास्यास्पद है, इसे पाठक स्वयं समझ सकते हैं । इससे तो वहाँ रात्रिके समय, जब कि भारतमें दिन था, कुन्दकुन्दका भोजन कर लेना निर्दोष ठहरता है ! फिर, उसे उन्होंने क्यों नहीं अपनाया और क्यों

सात दिन तक वे भूखे रहे ? इसका ग्रंथ परसे कुछभी समाधान नहीं होता ! इसके सिवाय, यदि यह मान लिया जाय कि भारतकी रात्रि-दिनकी चर्याके हिसाबसे ही कुन्दकुन्द बँधे हुए थे तो उन्हें उस वक्त चक्रवर्तीसे वार्तालाप भी नहीं करना चाहिये था और न वहां दिनके समय सीमंधर स्वामी तथा उनके गणधरोंसे ही प्रश्नादिक करने चाहियें थे; क्योंकि उस समय भारतमें रात्रि थी और रात्रिको मुनिजन बोलते नहीं हैं—खुद कुन्दकुन्दभी इसीलिये उन देवोंसे नहीं बोले थे जो रात्रिके समय उन्हें लेनेके लिये गये थे और जिसका उल्लेख ग्रंथमें "ब्रूयुर्नैव रात्रौ च" इत्यादि वाक्यके द्वारा किया गया है। फिर कुन्दकुन्दने अपने उस रात्रिमें मौनके नियमको वहाँ जाकर क्यों भुला दिया ? यह देशकालानुसार वर्तन नहीं था तो और क्या था ? फिर भोजनने ही कौनसी ख़ता की थी ? यदि वहां उन्हें भोजन कराना ही ग्रंथकारको इष्ट नहीं था तो अच्छा होता यदि कुन्दकुन्दके द्वारा ऐसा कुछ उत्तर दिला दिया जाता कि 'भारतीयों द्वारा दिया हुआ भारतका अन्नजल ही मेरे लिये ग्राह्य है।' परन्तु ग्रंथकारको इतनी समझ होती तब न ! उसने तो अपनी मूर्खतावश कुन्दकुन्द जैसे महान् आचार्य को भी अच्छा ख़ासा मूर्ख बना डाला है !!

८ आगमका अद्भुत विधान

ग्रंथमें एक स्थान पर आगमका जो विधान दिया गया है वह इस प्रकार है:—

जिनबिम्बं नराः ये हि दृष्ट्वा कुर्वन्ति भोजनम् ।
ते मता ह्यागमे मर्त्याः पशुतुल्याश्च तद्धृते ॥पृ० २०६॥

अर्थात्—आगममें वे लोग ही निश्चयसे मनुष्य माने

गये हैं जो जिनबिम्बका—जिनेन्द्रकी मूर्तिका—दर्शन करके भोजन करते हैं। जो लोग जिनबिम्बका दर्शन किये बिना भोजन कर लेते हैं उन्हें 'पशुतुल्य' समझना चाहिये।

आगमकी इस व्यवस्थाके अनुसार—(१) वे सब निर्ग्रंथ जैनमुनि पशुतुल्य ठहरते हैं जिनके जिनबिम्बके दर्शनपूर्वक भोजनका तो क्या, जिनबिम्बके दर्शनका भी कोई नियम नहीं होता—वैसे ही चर्यादिकको जाते समय यदि कोई जैन मन्दिर अचानक रास्तेमें आ जाता है तो वे दर्शन कर लेते हैं अन्यथा नहीं! (२) वे सब सज्जन भी पशुओंकी कोटिमें आते हैं जो अप यहांने जैनमन्दिरके न होने या सफ़रमें रहने आदि किसी कारणके वश बिना जिनबिम्बका दर्शन किये ही भोजन कर लेते हैं अथवा कुछ खा-पीकर दर्शन करते हैं—भलेही वे कैसे ही सभ्य, शिष्ट, धर्मात्मा एवं मनुष्योचित कार्योंके करने वाले क्यों न हों! (३) सारे अजैनजन भी पशुतुल्य क़रार पाते हैं, जिनमें बड़े बड़े सन्तमहन्त, सत्पुरुष त्यागमूर्ति, परोपकारी, पूज्य देशनेता और गाँधीजी जैसे महात्मा भी शामिल हैं! क्योंकि वे लोग बिना जिनबिम्बका दर्शन किये ही भोजन किया करते हैं!! (४) उन सब दुष्टों, धूर्तों तथा पापात्माओंको भी मनुष्यत्वका सर्टिफिकेट मिल जाता है जो किसी तरह भोजन से पहले जिनबिम्बका दर्शन तो कर लेते हैं परन्तु अन्य प्रकार से जिनके पास धर्माचार या विवेक जैसी कोई वस्तु नहीं होती और जो मनुष्य हत्याएँ तक कर डालते हैं!

मालूम नहीं यह कौनसे आगमका अद्भुत विधान है! जैनागमका तो ऐसा कोई विधान है नहीं और न हो सकता है। संभवतः यह ग्रंथकारके उस कलुषित हृदयागमका ही विधान जान पड़ता है जो ढूंढिया भाइयों पर गालियोंकी वर्षा करते समय उसके सामने खुला हुआ था।

इसी तरहका एक अत्यन्त संकीर्ण हृदयोद्गार ग्रंथकार ने और भी निकाला है और वह इस प्रकार है—

पश्यन्ति नैव ये मूढाः जिनबिम्बं जगन्नुतम् ।

कदापि तन्मुखो नैव दर्शनीयो बुधोत्तमैः ॥पृ० १९५॥

इसमें बतलाया गया है कि 'जो लोग जिनबिम्बका दर्शन नहीं करते हैं उन मूढ़ोंका कदापि मुंह नहीं देखना चाहिये !'

इस व्यवस्थाके अनुसार देशकी प्रायः सारी महाविभूतियाँ—पूज्यव्यक्तियाँ—भी जैनियोंके लिये, नहीं नहीं इस ग्रन्थके मानने वालों के लिये, अदर्शनीय हो जाती हैं! उन्हे देशके दूसरे पूज्य नेताओं, राजाओं, हाकिमोंसे नहीं मिलना चाहिये ! अन्य व्यापारियों, सेवकों तथा शिल्पकारोंसे भी बात नहीं करनी चाहिये !! और रास्ता चलते हुए आँखें बन्द करके अथवा अपने मुंह पर पल्ला डाल कर चलना चाहिये; क्योंकि चारों तरफ़ ऐसे ही लोग भरे पड़े हैं जो जिनबिम्बका दर्शन नहीं करते—कहीं उनका मुख न दिखलाई पड़ जाय !!! कैसी अद्भुत व्यवस्था और कैसी हृदयहीनता है !! इस व्यवस्था पर दृढ़ताके साथ अमल करने (चलने) वाले क्या संसारमें कुछ अधिक समय तक जीवित रह सकते हैं या अपनी कुछ उन्नति कर सकते हैं ? कदापि नहीं। फिर उनके द्वारा अपने धर्मका प्रचार अथवा लोगोंको जिनबिम्बके दर्शनकी ओर लगानेका कार्य तो बन ही कैसे सकता है ? निःसन्देह, इस प्रकारकी शिक्षाओंने जैनसमाजको बहुत बड़ी हानि पहुँचाई है और जैनियोंको पतनके खुले मार्ग पर लगाया है !! अन्यथा, हमारे प्राचीन ऋषि-मुनियों आदिने तो पतितसे पतित मनुष्यों, भील-चाण्डालों और म्लेच्छों तकको, उनकी बाँह पकड़ कर, सन्मार्ग

पर लगाया है। वे यदि उनका मुँह ही न देखते तो उनका उद्धार कैसे कर पाते? परन्तु खेद है कि आज आचार्य कहे जाने वाले शान्तिसागरजी और उनके गणधर क्षुल्लक ज्ञान-सागरजी ऐसी विषैली शिक्षाओंसे परिपूर्ण ग्रन्थका भी अनु-मोदन तथा प्रचार करते हैं और जैनसमाज उनसे कुछभी जवाबतलब नहीं करता—उन्हें बराबर आचार्य तथा क्षुल्लक मानता चला जाता है! इससे अधिक जैनसमाजका पतन और क्या हो सकता है?

६ कर्मसिद्धान्तकी नई ईजाद!

भगवान्से राजा श्रेणिकके कुछ प्रश्नोंका उत्तर दिलाते हुए, एक स्थान पर लिखा है कि 'म्लेच्छोंसे उत्पन्न हुए स्त्री-पुरुष मरकर व्रतहीन मनुष्य (स्त्री-पुरुष) होते हैं।' यथा:—

म्लेच्छोत्पन्ना नरा नार्यः मृत्वा हि मगधेश्वर!
भवन्ति व्रतहीनाश्च इमे वामाश्च मानवाः ॥पृ० ३७७॥

इस विधानके द्वारा ग्रन्थकारने कर्मसिद्धान्तकी एक बिलकुल ही नई ईजाद कर डाली है! क्योंकि जैनधर्मके कर्म-सिद्धान्तानुसार म्लेच्छ सन्तानोंके लिये न तो मनुष्यगतिमें जानेका ही कोई नियम है, जिसे सूचित करनेके लिये ही यहाँ 'मानवाः' पदका ख़ास तौरसे प्रयोग किया गया है—वे दूसरी गतियोंमें भी जा सकते हैं और जाते हैं—और न अगले जन्ममें व्रतहीन होना ही उनके लिये लाज़िमी है। व्रतहीन होनेके लिये चारित्रमोहनीयका एक भेद अप्रत्याख्यानावरण कषायका उदय कारण माना गया है और चारित्र-मोहनीयके

आस्रवका कारण "कषायोदयात् तीव्रपरिणामश्चारित्रमोहस्य" इस सूत्रके अनुसार कषायके उदयसे तीव्रपरिणामका होना कहा गया है—न कि किसी म्लेच्छकी सन्तान होना। म्लेच्छ की सन्तानें तो अपने उसी जन्ममें व्रतोंका पालन कर सकती हैं और महाव्रती मुनि तक हो सकती हैं, जिसके अनेक उदाहरण तथा विधान जैनशास्त्रोंमें पाये जाते हैं*, तब उनके लिये अगले जन्ममें लाज़िमी तौरसे व्रतहीन होनेकी कोई वजह ही नहीं हो सकती।

इसके सिवाय, इसी ग्रंथमें एक स्थान पर लिखा है कि जैनधर्मको धारण करता हुआ श्वपच (म्लेच्छ-विशेष भी) 'श्रावकोत्तम' माना गया है, कुत्ता भी व्रतके योगसे देवता हो जाता है और एक कीड़ा भी लेशमात्र व्रतके प्रसादसे उत्तम गतिको प्राप्त होता है। तथा दूसरे स्थान पर लिखा है कि

---

* देखो, हरिवंशपुराणादि ग्रन्थ, जिनमें अनेक भीलों, चाण्डालों, म्लेच्छोंके व्रतपालनादिका उल्लेख है। 'जरा' नामकी म्लेच्छ कन्यासे उत्पन्न हुए 'जरत्कुमार' ने भी अन्तको मुनिदीक्षा ली थी, जिसका उल्लेख भी जिनसेनके हरिवंशपुराणमें है। इसके सिवाय, लब्धिसारकी टीकाके निम्न अंशसे साफ प्रकट है कि म्लेच्छ देशोंसे आये हुए म्लेच्छ तथा म्लेच्छ कन्याओंसे चक्रवर्त्यादिकके वैवाहिक सम्बन्ध द्वारा उत्पन्न पुत्र जैनमुनिदीक्षाके अधिकारी हैं:—"म्लेक्ष-भूमिजमनुष्याणां सकलसंयमग्रहणं कथं भवतीति नाशंकितव्यं। दिग्विजयकाले चक्रवर्तिना सह आर्यखण्डमागतानां म्लेच्छराजानां चक्रवर्त्यादिभिः सहजातवैवाहिकसम्बन्धानां संयमप्रतिपत्तेरविरोधात्। अथवा चक्रवर्त्यादिपरिणीतानां गर्भेषूत्पन्नस्य मातृपक्षापेक्षया म्लेच्छ-व्यपदेशभाजः संयमसंभवात् तथाजातीयकानां दीक्षार्हत्वे प्रतिषेधा-भावात्।" (गाथा नं० १९३)

मातङ्ग (म्लेच्छ-विशेष) आदि मनुष्योंने शुद्ध एक (कर्मदहन) व्रतका पालन करनेसे सुखको प्राप्त किया है। यथा :—

"श्वपचो जिनधर्मेण कथितः श्रावकोत्तमः।"...

"श्वलको वृतयोगेन देवत्वे जायते खलु।"...

"कीटोऽपि व्रतलेशेन भजते गतिमुत्तमाम् ॥पृ० ३७॥"

"मातंगाद्याश्च ये मर्त्याः शुद्धैकव्रतपालनात्।
सुखमाप्ताः.................. ॥पृ० ३८१॥"

जब इसी ग्रन्थके कथनानुसार श्वपच-मातंग ही नहीं किन्तु कुत्ता और कोड़ा भी व्रतका पालन कर सकता है तब एक म्लेच्छ-पुत्र या पुत्री व्रतका अनुष्ठान करते हुए मर कर मनुष्य होने पर भी व्रतका पालन न कर सके—सर्वथा व्रत-हीन ही रहे—यह कैसे बन सकता है? अतः ग्रंथकारकी यह नई ईजाद अथवा व्यवस्था बिलकुल उसकी नासमझी पर अवलम्बित है, वास्तविकतासे उसका कोई सम्बन्ध नहीं और उसे एक उन्मत्त प्रलापसे अधिक कुछभी महत्व नहीं दिया जा सकता। इसी तरहकी और भी कितनी ही बातें कर्मसिद्धान्त की विडम्बनाको लिये हुए पाई जाती हैं, जिन्हें यहाँ छोड़ा जाता है।

१० स्त्रीजातिका घोर अपमान !

ग्रन्थके शुरूमें भगवान्‌के मुंहसे पंचमकालके भविष्यका वर्णन कराते हुए एक स्थान पर लिखा है:—

शीलहीना भविष्यन्ति वामास्तस्मिन्मदोद्धताः।
त्यक्त्वा च स्वपतिं दासं भोक्ष्यन्ति कालदोषतः ॥१००॥

लक्षकोटिषु शीलाढ्या नारी ह्येका नराधिराट् !
शुद्धशीलधरा नापि भविष्यन्ति न संशयः ॥१०१॥

अर्थात्—पंचमकालमें स्त्रियां शीलरहित तथा मदोद्धत होंगी और कालदोषसे अपने पतिको छोड़ कर नौकरसे भोग करेंगी। हे राजन् ! लाखों-करोड़ों स्त्रियोंमें कोई एक स्त्री शीलवती होगी और शुद्धशीलका पालन करने वाली तो कोई होगी ही नहीं !

इस भविष्यकथनके अनुसार भारतवर्षमें इस वक्त मन-वचन-कायसे प्रसन्नतापूर्वक शुद्ध शीलव्रतका पालन करने वाली तो कोई स्त्री होनी ही न चाहिये ! जो किसी मजबूरी आदिके कारण कायसे शीलव्रतका पालन करती हों, उनकी संख्या भी ५० या ज्यादासे ज्यादा १०० के क़रीब होनी चाहिये—जैनसमाजकी स्त्री-संख्या छह लाखके क़रीब है, इस लिये उनमें तो कोई एकाध स्त्री ही वैसी शीलवती होनी चाहिये। बाक़ी सब स्त्रियों को व्यभिचारिणी समझना चाहिये !!

यह कथन प्रत्यक्षके कितना विरुद्ध और विपरीत है, उसे बतलानेकी ज़रूरत नहीं—देशकालका थोड़ा सा भी व्यापकज्ञान रखने वाले इसे सहज ही में समझ सकते हैं। हां, इतना ज़रूर कहना होगा कि इसके द्वारा स्त्रियोंकी पवित्रता पर जो व्यर्थका निरर्गल आक्रमण और अविवेकपूर्ण भारी दोषारोपण किया गया है वह स्त्री जातिका घोर अपमान है और एक ऐसा अपराध है जो क्षमा नहीं किया जा सकता। वास्तवमें भगवान् महावीरके बादसे आज तक देशमें हज़ारों-लाखों देवियां पूर्णरूपसे पतिव्रत धर्मका पालन करने वाली परम सुशीला, पतिपरायणा और देशकी गौरवरूपिणी हो चुकी हैं। उनकी यह अवज्ञा किसी तरह भी सहन नहीं की जा

सकती। इस समय भी पुरुषोंकी अपेक्षा स्त्रियां अधिक शील-सम्पन्न तथा अधिक पवित्र जीवन बिताने वाली हैं और जो पतित भी होती हैं वे प्रायः पुरुषोंके द्वारा ही पतनके मार्गमें लगाई जाती हैं; फिर भी पुरुषोंके शीलविहीन होनेकी बाबत ऐसा कुछ नहीं कहा गया, यह आश्चर्य है! और वह ग्रंथकार के पूर्ण अविचार तथा उसके किसी स्वार्थ को सूचित करता है।

११ शूद्र-जलादिके त्यागका अजीब विधान !

इस ग्रंथमें कुछ स्थानों पर शूद्र स्पर्शित जल-घृतादिको त्याज्य बतलाते हुए लिखा हैः—

"निन्द्यं स्यात्सर्वमासेषु न्यादपानादिकं खलु।
शूद्रकरेण संस्पृश्यं सदाचारविनाशकम् ॥१३३॥
मद्यमांसमधूनां यदशनाद्दोषो जायते।
वै स्यात्तद्धस्तसंपर्क-वस्तुभक्षणतो बुधाः ॥१३४॥
ये पुनः शूद्रहस्तस्य भाद्रमासे व्रतेषु च।
चूर्णोदकाज्यं खादन्ति ते नरास्तत्समा मताः ॥१३५॥"
"शूद्रस्पृश्यं जलं चूर्णं घृतं ग्राह्यं व्रतासये।
नैव गृह्णन्ति ये मूर्खास्तत्समास्ते बुधैर्मताः ॥१६०॥"

—पृ० ३६, ३७, २१४

अर्थात्—शूद्रका हाथ लगा हुआ भोजन-पानादिक निश्चयसे सदाचारका विनाशक है, सभी महीनोंमें निन्द्य है (खानेके योग्य नहीं)। हे बन्धुजनो! जो दोष मद्य-मांस मधुके खानेसे लगता है वही शूद्रका हाथ लगी वस्तुके खानेमें

लगता है । जो लोग भादोंके महीनेमें तथा व्रतोंमें शूद्रके हाथका जल, घृत और आटा खाते हैं वे शूद्रोंके समान माने गये हैं। व्रतकी (कर्मदहनव्रतकी) सिद्धिके लिये शूद्रस्पर्शित जल, घृत और आटा ग्रहण नहीं करना चाहिये; जो मूर्ख ग्रहण करते हैं वे शूद्रोंके समान ही माने गये है।

एक स्थान पर तो यहां तक भी लिखा है कि 'जो लोग खानपानादि-सम्बन्धी कामोंके लिये—उनको तय्यारीमें सहायता पहुँचाने आदिके लिये*—शूद्रोंको अपने घर पर (नौकर) रखते हैं वे श्रावक कैसे हो सकते है ? उन्हे निश्चयसे शूद्रोंके समान समझना चाहिये।' यथाः—

शूद्रलोकस्य ये धाम्नि रक्षन्ति ते कथं मताः ।

खानपानादिकमार्थि श्रावकास्तत्समाः खलु ॥पृ० ३२॥

मालूम नहीं ये सब विधान कौनसी कर्मफिलासोफी अथवा धर्मशास्त्रको किस आशास सम्बन्ध रखत हैं! और न यही कुछ समझमें आता है कि मात्र शूद्रके हाथका स्पर्श होने से ही भोजन-पानकी कोई सामग्री निन्द्य (सदोष) क्योंकर हो जाती है ? कैसे सदाचारकी विनाशक बन जाती है ? और उसके भक्षणसे मद्य-मांस मधुके भक्षणका दोष (पाप) किस प्रकार लगता है ? कोई मनुष्य महज़ भादों अथवा व्रतके दिनों में शूद्रस्पर्शित जल, घृत और आटेके लेनसे ही—बिना शूद्रका कर्म किये अथवा शूद्रकी वृत्तिको अपनाये ही—शूद्र कैसे बन जाता है ? शूद्र बना देनेकी वह विशेषता जल, घृत और आटेको

* जैसे वर्तन मांजना, चौकाचूल्हा करना, पानी भरना, दुग्धादि गर्म करना तथा लाकर देना, आटा छानना और शाकादि ठीक करना जैसे कामोंके लिये।

ही क्यों प्राप्त है ? दूध, दही, गुड़, शक्कर, बूरा, खांड, दाल, चावल, तिल, तेल, गेहूं, चना आदि सालिम अनाज और फल शाकादिकको वह क्यों प्राप्त नहीं है ? यदि प्राप्त है तो फिर दोनोंमें से किसी भी श्लोकमें उनका उल्लेख क्यों नहीं किया गया ? 'आदि' शब्द तक भी क्यों साथमें नहीं लगाया गया ? और प्राप्त होने पर कोई भी मनुष्य शूद्रकी पदवी पाने से वंचित कैसे रह सकता है ? इसी तरह वर्तन मांजने, चौका-चूल्हा करने, पानी भरने, दुग्धादि गर्म करने तथा लाकर देने, आटा छानने और शाकादि ठीक करने जैसे कामोंके लिये घर पर सत् शूद्रकी योजना होनेसे ही घरके लोग शूद्र कैसे बन जाते हैं ? बड़ा ही अजीब विधान है !!!

क्या ग्रंथकारकी दृष्टिमें सारे ही शूद्र असदाचारी तथा मद्यमांसादिकके खाने वाले होते हैं और ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्योंमें से कोई भी असदाचारी तथा मद्य-मांस-मधुका सेवन करने वाला नहीं होता है ? यदि ऐसा नहीं, बल्कि प्रत्यक्षमें हज़ारों शूद्र बड़े सदाचारी, ईमानदार तथा सफ़ाईके साथ रहने वाले देखे जाते हैं और उनकी कितनी ही जातियां मद्य-मांसका स्पर्श तक नहीं करतीं; प्रत्युत इसके, लाखों ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य दुराचारी पाये जाते हैं, मद्य-मांसादिकका खुला सेवन करते हैं और कितनेही जैनी भी महादुराचारी तथा कुछ मद्य-मांसा-दिकका सेवन करने वाले भी नज़र आते हैं, तब फिर शूद्रोंके विषयमें ही ऐसा नियम क्यों ? उनके प्रति यह अन्याय क्यों ? और ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्योंके साथ अनुचित पक्षपात क्यों ? क्यों ऐसा नियम नहीं किया गया कि जो लोग दुरा-चारी तथा मद्य-मांसादिकका सेवन करने वाले हों उनके हाथ का भोजनपान नहीं करना—भले ही वे जैनी क्यों न हों ? यदि ऐसा नियम किया जाता तो वह कुछ समुचित एवं

न्यायानुमोदित भी जान पड़ता और दिलको भी लगता। प्रत्युत इसके, ऊपरका विधान बिलकुल जैनधर्मकी शिक्षाके बाहर है—शूद्रोंके प्रति घृणा, तिरस्कार एवं दूषित मनोवृत्तिका द्योतक है। जैनधर्ममें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये भेद वृत्ति (आजीविका) के आश्रित हैं और इन सभीको जैनधर्मके पालनका अधिकारी बतलाया है—सभी लोग वर्णानुसार अपनी अपनी आजीविका करते हुए जैनधर्मका यथायोग्य पालन कर सकते हैं और जैनी हो सकते हैं। शूद्र तो शूद्र, भीलों चाण्डालों एवं म्लेच्छों तकके, जैनधर्मको धारण करके जैन-व्रतोंका पालन करनेके, उदाहरणों और विधानों से जैनग्रंथ भरे पड़े हैं, जिनका कुछ थोड़ा सा परिचय लेखककी 'जैनी कौन हो सकता है' इस नामकी पुस्तकसे भी मिल सकता है। खुद इस ग्रंथमें भी एक स्थान पर '*व्रतपालनात् शूद्रोऽपि श्रावको ज्ञेयः*' जैसे वाक्यके द्वारा व्रतपालन करते हुए शूद्रको श्रावक लिखा है; एक दूसरे स्थान पर श्वपच (चाण्डाल) के श्रावकोत्तम होनेका उल्लेख किया है और तीसरे स्थान पर मातंगादिकने कर्मदहनव्रतका पालन कर सुख पाया ऐसी सूचना की गई है। क्या एक शूद्र या मातंग (चाण्डाल), कर्म-दहनव्रतका अनुष्ठान करता हुआ और इसलिये व्रतविधिके साथ अनुगत भगवानका अभिषेक पूजनादि करता हुआ भी, खुद अपने हाथका भोजन न करके किसी ब्राह्मणादिके हाथका भोजन करता फिरेगा ? कैसी अजीब विडम्बना होगी! ग्रंथकारको इन सब पूर्वापरसम्बन्धों आदिको कुछ भी खबर नहीं पड़ी और उसने यों ही बिना सोचे समझे उन्मत्तोंकी तरह जो जीमें आया लिख मारा!! और साथमें भगवान महावीरको भी घसीट मारा; क्योंकि ये सब वाक्य

भी उन्हींके मुखसे और उन्हींके शासनके विरुद्ध कहलाये गये हैं !!! जिन भगवान् महावीरने शूद्रोंका संकट दूर किया, उन पर होते हुए ब्राह्मणोंके अत्याचारोंका तीव्र विरोध कर उन्हें हटाया और उन्हें सब प्रकारकी धार्मिक स्वतन्त्रता प्रदान की, उन्हींके मुखसे शूद्रोंके प्रति ऐसे अन्याय तथा तिरस्कारमय शब्दोंका निकलना कब संभव हो सकता है और कौन सहृदय उसपर विश्वास कर सकता है ? कोई भी नहीं, और कभी भी नहीं ।

१२ भगवानकी मिट्टी खराब !

इस ग्रन्थमें भगवान् महावीरके मुखसे बहुतसा असम्बद्ध प्रलाप कराकर और अनेक आपत्तिके योग्य, पूर्वापरविरुद्ध, इतिहासविरुद्ध, सत्यविरुद्ध तथा अपने ही शासनके विरुद्ध कितनी ही बेढंगी बाते कहलाकर और भगवान्को अच्छा खासा मूर्ख, अविवेकी, अनुदार, साम्प्रदायिक कट्टर, विक्षिप्तचित्त, असभ्य, अशिष्ट, कषायवशवर्ती और कलुषित हृदय क्षुद्रव्यक्ति चित्रित करके उनकी कैसी मिट्टी ख़राब की गई है, इसका कितना ही परिचय पाठकोंको अबतकके उल्लेखों द्वारा प्राप्त हो चुका है । यहां पर दो तीन बातें और भी इसी विषयकी प्रकट की जाती हैं :—

(क) सम्मेदाचलके प्रकरणमें, कूटोंके नामादिसम्बन्धी राजा श्रेणिकके प्रश्नको लेकर, भगवान् महावीरसे सम्मेद-शिखरका स्तोत्र * कराया गया है और उसमें उनसे "अहं *नमामि शिरसा त्रिशुद्ध्या तं तीर्थराजं शिवदायकं च*", "*ईडे*

* इस स्तोत्रमें राजा श्रेणिकको सम्बोधन करनेके लिये नृप, नृपते, मगधाधीश, नराधीश और चेलनापते जैसे पदोंका प्रयोग किया गया है ।

सदा तं शिवदायकं च" जैसे वाक्योंके द्वारा सिर झुकाकर पर्वतराजकी पूजा बन्दना तक कराई गई है ! इतना ही नहीं, बल्कि इस स्तोत्र की प्रतिज्ञाके अवसरपर भगवान्को गणधरों, सर्व मुनियों तथा जिनवाणीके भी आगे नतमस्तक किया गया है—अर्थात् उन्हे भी नमस्कार कराकर स्तोत्रकी प्रतिज्ञा कराई गई है !! यथा :—

नत्वा श्रीजिननायकान् गणधरान्देवेन्द्रवृन्दार्चितान्
मौनीन्द्रान् सकलान् तथा च सुखदां जैनेन्द्रवक्त्रोद्भवाम् ।
वाणीं पापप्रणाशिकां मुनिनुतां सद्बुद्धिदां पावनीं
सम्मेदाभिधपर्वतस्य शिवदं स्तोत्रं करोमि शुभम् ॥

—पृ० २६५

मालूम नहीं जिनेन्द्रपदवी और परम आर्हन्त्य दशाको प्राप्त भगवान् महावीरका अपने ही उपासक गणधरों तथा मुनियों और अपनी ही वाणीके—अपने ही शास्त्रोंके—आगे सिर झुकानेका तथा पर्वतकी स्तुति-बन्दनाका क्या अभिप्राय और उद्देश्य हो सकता है ! वास्तवमें तो इस प्रकारकी स्तुति तथा पूजा-वन्दना जिनेन्द्रपदकी एकमात्र विडम्बना है अथवा यों कहिये कि ये सब भगवान् महावीरकी उस स्थिति तथा पोज़ीशनके विरुद्ध हैं जिसे लिये हुए वे केवलज्ञानके पश्चात् समवसरणमें स्थित थे। वे इन मुनियों आदि की वन्दना और पर्वतोंकी स्तुतिपूजाके भावसे बहुत ऊँचे उठ चुके थे—उपासकोंकी इस श्रेणीसे ही निकल चुके थे—, और इसलिये उन से इस प्रकारकी क्रियाएँ कराना सचमुच ही उनकी मिट्टी ख़राब करना है !! उन्हें एक तरहसे ज़लील (अपमानित) करना है !!!

(ख) कर्मदहनव्रतके फलकथनमें—जो राजा श्रेणिकको सुनाया गया है—मोक्षस्थानादिका वर्णन करते हुए, "*ईदृशो मगधाधीश मोक्षस्थानं मनोहरे*" इत्यादि श्लोकसे पहले—एक ही श्लोकके अंतरपर—निम्न श्लोक दिया है और उसके द्वारा भगवान् महावीरसेमुक्त जीवोंके प्रति यह प्रार्थना और याचना कराई गई है कि वे उसे बोधि और समाधि प्रदान करें:—

ते मया संस्तुताः सर्वे चिन्मयाः कायवर्जिताः ।
मे समाधिं सुबोधिं च यच्छन्तु नोपरा इह ॥११॥

इससे मालूम होता है कि समवसरण-स्थित भगवान् महावीर बोधि और समाधिसे विहीन थे ! उन्हें दोनोंकी ज़रूरत थी और इसलिये स्तुतिके अनंतर उन्होंने उनके लिये याचना की है !! और शायद इसीलिये उन्होंने, स्तुतिका प्रारंभ करते हुए, "*किंचित् बुद्धिलवेन भव्यवचसा तेषां च कुर्वे स्तवं*" इस वाक्यके द्वारा अपनेको थोड़ीसी बुद्धिका धारक भी सूचित किया है !!! 'बोधि' अर्हद्धर्मको प्राप्तिको, सम्यग्दर्शन (सम्यक्त्व) को तथा पूर्ण ज्ञान (Perfect wisdom) को भी कहते हैं, और 'समाधि' स्वरूपमें चित्तकी स्थिरताका नाम है अथवा "प्रशस्तं ध्यानं शुक्लं धर्म्यं वा समाधिः" इस श्री विद्यानन्दके वाक्यानुसार धर्म्य और शुक्ल नामके प्रशस्त ध्यानों को भी समाधि कहते हैं। अब पाठकजन सोचिये, कि क्या केवलज्ञान और केवलसम्यक्त्व आदि क्षायिक गुणोंको पाकर अथवा परम आर्हन्त्य पदको प्राप्त होकर भी भगवान् महावीर बोधिसमाधिसे विहीन थे ?—उन्हें पूर्णज्ञान नहीं था ? स्वरूपमें उनका चित्त स्थिर नहीं था ? और वे प्रशस्त ध्यानी नहीं थे ? यदि ऐसा कुछ नहीं है तो फिर ऐसे आप्तपुरुषोंसे

बोधि-समाधिकी याचना कराना और उन्हे थोड़ी सी बुद्धिका धारक प्रकट कराना उनकी तथा अर्हत्पदकी मिट्टी खराब करना नहीं तो और क्या है ? अर्हन्तोंसे तो दूसरे लोग '*दिंतु समाहिं च मे वोहिं*' जैसे शब्दोंके द्वारा बोधिसमाधिकी प्रार्थना किया करते हैं; वे यदि खुद ही बोधिसमाधिसे विहीन हों तो उनकी उपासनासे इस विषयमें लाभ भी क्या उठाया जा सकता है ? और उनकी अर्हन्तता अथवा आप्तताका महत्व भी क्या हो सकता है ? कुछभी नहीं।

(ग) दिगम्बर तेरहपंथियोंसे भगवान्की झड़पके समय निम्न वाक्य भी भगवान्के मुखसे कहलाये गये हैं :—

> "*अधुना पंचमे काले नो सन्ति भो बुधोत्तमाः ।*
> *तीर्थकराः सुरैः पूज्याः केवलज्ञानमंडिताः ॥८५॥*
> "*प्रत्यक्षं केवली नास्ति अतस्तत्स्थापना मता ।*
> *स्थापनायां मताः सर्वाः क्रियाः वै स्नपनादिकाः ॥१०३॥*
> "*कालेऽस्मिंश्चलचित्तकरे मिथ्यात्वपूरिते ।*
> *नैव दृश्यन्ते योगीन्द्रा महाव्रतधरा वराः ॥११३॥*

इनके द्वारा भगवान् महावीर कहते हैं—'हे उत्तम बुधजनों ! इस वक्त (अधुना) पंचमकालमें निश्चयसे केवलज्ञानमंडित और देवोंसे पूज्य तीर्थङ्कर नहीं हैं । प्रत्यक्षमें कोई केवली नहीं है, इसलिये केवलीको स्थापना मानी गई है और स्थापनामें निश्चयसे अभिषेकादि सारी क्रियाएं स्वीकार की गई हैं । इस चलचित्तकारी और मिथ्यात्वसे पूरित (पंचम) कालमें महाव्रतों को धरने वाले श्रेष्ठ योगीन्द्र दिखलाई ही नहीं देते ।'

भगवान् महावीर चतुर्थकालमें हुए हैं, वे खुद तीर्थङ्कर थे, केवली थे और उनके समयमें बहुतसे महाव्रतधारी गौतमा-

दि योगीन्द्र मौजूद थे और बादको पाँचवें कालमें भी भद्रबाहु, धरसेन, कुन्दकुन्द, समन्तभद्र और जिनसेनादि कितने ही श्रेष्ठ योगीन्द्र हो चुके हैं जिन्हें इस ग्रंथमें भी 'इत्याद्या वर-योगीन्द्राः' जैसे शब्दोंके द्वारा 'वरयोगीन्द्र' प्रकट किया गया है*; तब भगवान्का पंचमकालके साथ 'अधुना' शब्द जोड़कर अपने समयको पंचमकाल बतलाना, खुद तीर्थङ्कर तथा केवली होते हुए भी उस समय तीर्थङ्कर तथा केवलीका अभाव प्रकट करना और अपने सामने गौतमादि गणधरों जैसे महायोगीन्द्रों के मौजूद होते हुएभी 'इस समय कोई महाव्रतधारी योगीन्द्र दिखलाई नहीं देते' ऐसा कहना कितना हास्यास्पद तथा आश्चर्यजनक है और उसके द्वारा भगवानका कितना गहलापन तथा उन्मत्तप्रलाप पाया जाता है, इसे पाठक स्वयं समझ सकते हैं। भगवानके मुंहसे इन वाक्योंको कहला कर ग्रंथकार ने निःसन्देह भगवानकी बड़ीही मिट्टी ख़राब की है और उन्हें कोरा बुद्धू ठहराया है !!

यदि भगवान कहीं इस समय सजीव देहधारी होते या देहधारण कर यहाँ आते और इस ग्रंथको देख पाते तो आश्चर्य नहीं जो वे यों कह उठते—

'जौहर थे ख़ास मुझमें आप्तस्वरूप के ।
यों स्वांग बना क्यों मेरी मिट्टी ख़राब की !!'

सचमुच ही इस सारे ग्रंथमें भगवान महावीरका स्वाँग बनाकर और उससे अटकलपच्चू यद्वातद्वा कहलाकर उनकी खूब अच्छी तरहसे मिट्टी ख़राब की गई है; उनके ज्ञान,श्रद्धान, विवेक, अकषायभाव, समता, उदारता, सत्यवादिता, सभ्यता,

---

* इसके लिये देखो, पृष्ठ २७ पर उद्धृत श्लोक नं० १५४ से १५६ ।

शिष्टता, पदस्थ और पोज़ीशन आदि सब पर पानी फेरा गया है और उन्हें कठपुतलीकी तरह नचाते हुए विद्वानोंकी दृष्टिमें ही नहीं, किन्तु साधारण जनों की दृष्टिमें भी बहुत कुछ नीचे गिराया गया है !! यह सब ग्रंथकार पंडित नेमिचन्द्रको धूर्तता, मूढ़ता, अविवेक परिणति, कषायवशर्तिता, साम्प्रदायिक कट्टरता, स्वार्थसाधुता, क्षुद्रता और उस अहं-कृतिका ही एक परिणाम जान पड़ता है जिसने उससे यह गर्वोक्ति तक कराई थी कि 'इस ग्रंथके श्रवणमात्रसे प्रतिपक्षीजन मंत्रकीलित नागोंकी तरह मूकवत् स्थिर होजायंगे—उन्हे इसके विरुद्ध बोलतक नहीं आएगा ※!' वह अपनी अज्ञानता, विक्षिप्त-चित्तता और अहंकारादिके वश हुवा भगवान् महावीर के पार्टको इस ग्रंथमें ज़रा भी ठीक तौरसे अदा नहीं कर सका—खेल नहीं सका !! उसने व्यर्थ ही अपने हृदय, अपने अज्ञान, अपने संस्कारों, अपनी कषाय-वासनाओं, अपनी बातों और अपने कहनेके ढंग को भगवान् महावीरके ऊपर लादा है !!! और इस लिये इस ग्रंथको रचकर उसने जो घोर अपराध किया है वह किसी तरह भी क्षमा किये जानेके योग्य नहीं है। ऐसे महाजाली, झूठे, निःसार, अनुदार, प्रपंची और असम्बद्ध-प्रलापी एवं विरुद्ध कथनोंसे परिपूर्ण ग्रंथको किसी तरह भी जैन ग्रन्थ नहीं कहा जा सकता। इसे जैनग्रन्थोंका भारी कलंक समझना चाहिये और इसलिये जितनाभी शीघ्र होसके इसका जैनसमाजसे बहिष्कार किया जाना चाहिये।

यह तो हुई प्रायःमूल ग्रंथकी जांच और परीक्षा

※ इस गर्वोक्ति का द्योतक मूलवाक्य पृष्ठ २६ पर उद्धृत किया जा चुका है।

अथवा विशेष आलोचना * । अब ग्रन्थके अनुवादको भी लीजिये ।

अनुवादककी निरंकुशता और अर्थका अनर्थ !

इस ग्रंथके अनुवादमें अनुवादक पं० नन्दनलालजीने, जो अनुवादके समय 'ब्रह्मचारी ज्ञानचन्द्रजी महाराज' थे और अब 'क्षुल्लक ज्ञानसागरजी महाराज' के रूपमें शांतिसागरसंघमें विराजमान हैं, जिस स्वच्छंदता एवं निरंकुशतासे काम लिया है और उसके द्वारा जो अनर्थ घटित किया है उसका यदि पूरा परिचय कराया जाय और ठीक ठीक आलोचना की जाय तो एक अच्छा खासा बड़ा ग्रंथ बन जाय—अब तकके लेख परिमाण से उसका परिमाण बहुत बढ़ जाय । परन्तु मैं अब इस निबन्ध को अधिक बढ़ाना नहीं चाहता हूं, अनुवादक की इस निरंकुशता आदिका कितना ही परिचय पिछले पृष्ठों में भी प्रसंग पाकर दिया जा चुका है और उसके द्वारा ग्रन्थ तथा ग्रंथकारादिका जो स्वरूप प्रकट किया गया है उसे देखते हुए बहुत अधिक लिखनेकी कुछ ज़रूरत भी मालूम नहीं होती । अतः प्रकृत ग्रंथके अनुवाद-सम्बन्धमें संक्षेपरूपसे कुछ थोड़ासा

---

* इसमें ग्रन्थके भाषासाहित्यकी आलोचनाको जान बूझकर अनावश्यक समझते हुए शामिल नहीं किया गया, जो कि व्याकरणादि सम्बन्धी बहुत कुछ त्रुटियों तथा दोषों से परिपूर्ण है और जिसके लिये प्रकाशकको ही, उसके कुछ अशुद्ध प्रयोगोंको देखकर, यहाँ तक लिखना पड़ा कि वह "प्रचलित संस्कृत व्याकरण तथा कोषके अनुसार नहीं है" ।

विशेष परिचय और करादेना चाहता हूं, जिससे पाठकोंको अनुवादकी असलियत, निःसारता और अनुवादककी प्रकृति, प्रवृत्ति एवं चित्तवृत्तिके समझनेमें विशेष मदद मिले और वे उन सबका यथेष्ट अनुभव करसकें।

अनुवादस्थितिका सामान्य परिचय

इस ग्रंथके सारे अनुवादमें अनुवादक महाशय को उत्तर दायित्वशून्य प्रवृत्ति (निरंकुशता) के साथ साथ प्रायः यह मनोवृत्ति काम करती हुई दिखलाई देतीहै कि—अपने मन्तव्योंको पुष्ट करनेवाली भट्टारकीय शासनकी बातोंका प्रचार किया जाय; भट्टारकीय मार्गकी पुनः प्रतिष्टाकी जाय; शास्त्रकी ओट में अपने युक्तिशून्य विचारोंको चलाया जाय; लोग परीक्षाप्रधानी न रहें, न बनें, किन्तु अन्धश्रद्धालु बनें; भट्टारक मुनियों, नग्न भट्टारकों और उनके गणधरों एवं पृष्ठपोषकोंकी किसी भी प्रवृत्तिके विरुद्ध कोई अंगुली न उठावे—आलोचना न करें; सब लोग उनकी भरपेट पूजा-उपासना, सेवा सुश्रूषा किया करें अथवा सब प्रकारकी उनकी आवश्यकताओंको पूरा करते हुए उनके पूर्ण भक्त बनें; उनकी आज्ञामें चलें; उनके साहित्यको, ग्रंथोंको, क्रियाकाण्डको पूरा मान देवें, अपनावें और उनके इशारों पर नाचा करें। और इस तरह सर्वत्र उन्हींकी एक सत्ता क़ायम हो जाय! इसीलिये उन्होंने अपने तथा अपने गुरुओंके मार्ग-कण्टकों, सुधारकों, तेरहपन्थियों एवं परीक्षाप्रधानियों पर जगह जगह बात-बिनबात व्यर्थके आक्रमण किये हैं—उन्हे बिना ही किसी हेतुके मिथ्यादृष्टि, अश्रद्धानी, ढोंगी, आगमादि-लोपक एवं अधार्मिक आदि बतलाया है! और मुनिभट्टारकों आदि की आलोचनाओं, उनकी असत्प्रवृत्तियोंकी निन्दाओं तथा उनके कुत्सित साहित्यकी अथवा ग्रंथमात्रकी परीक्षाओं-समीक्षाओं

को यों ही बुरा बतला दिया है !! साथ ही विधवा-विवाहको, विजातीय-विवाहको, जातिपाँतिलोपको, भङ्गी चमारोंको, समुद्रयात्राको और शूद्रोंके व्रत न पाल सकने आदिको ऐसी ही कुछ बातें उठाकर अथवा साथ में जोड़कर, जिनका मूल ग्रंथ में कहीं नाम-निशान तक भी नहीं है, जनताके ऊपर अपने विचारोंको लादा गया है तथा अपने मार्गकण्टकों एवं सुधारकों आदिके विरुद्ध उसे भड़काकर अपना रास्ता साफ करने, अपने दोषों पर पर्दा डालने और अपना रंग जमानेका दूषित यत्न किया गया है। और इस सबके लिये अथवा यों कहिये कि अपनी तथा ग्रन्थकी बातोंको चलाने और अपने दोषोंको छिपाते हुए, अपना सिक्का जमानेके लिये, अनुवादकको कितनी ही चालाकी मायाचारी एवं कपटकलासे काम लेना पड़ा है और प्रायः उस चोरकी नीतिका भी अनुसरण करना पड़ा है जो भागता हुआ यह कहता जाता है कि 'चोर ! चोर !! पकड़ो ! पकड़ो !! वह जाता है ! इधरको भागा ! बड़ा अनर्थ होगया !! इत्यादि' और इस कहनेमें उसका एक मात्र आशय अपनी तथा अपने मार्ग की रक्षा और दूसरों को धोखेमें डालना ही होता है !! सबसे पहले अनुवादकने ग्रन्थकार पं० नेमिचन्द्रको आचार्यके आसन पर बिठलाया है, जिससे यह ग्रन्थ आचार्यप्रणीत एवं आर्षवाक्यके रूपमें समझ लिया जाय ! जैसाकि ग्रंथ के पृष्ठ १८१ पर दिये हुए "आचार्य महाराज कहते हैं" इस निराधार वाक्यसे तथा पृष्ठ ४०० पर "वंद्या नेमीन्दुनाम्ना" के अर्थ रूपमें दिये हुए निम्न वाक्यखण्ड से प्रकट है:—

"नेमिचन्द्र (ग्रंथकर्ताका नाम) आचार्य से वंदनीक"

परन्तु ग्रंथकार नेमिचन्द्र कोई आचार्य नहीं था; बल्कि एक साधारण तथा धूर्त पंडित था । पं० शिवजीराम नामके

एक गृहस्थका शिष्य था और उसने ग्रंथकी प्रशस्तिमें खुद अपनी गुरुपरम्पराका उल्लेख किया है, जिसका परिचय शुरू में (पृ० १४ पर) कराया जा चुका है।

इसके बाद अनुवादकको यह चिन्ता पैदा हुई कि ग्रंथकारको आचार्य तो बना दिया परन्तु ग्रंथमें दिया हुआ ग्रंथका निर्माण समय संवत् १९०९ यदि प्रकट किया गया तो यह सारा खेल बिगड़ जायगा, ग्रंथ बहुत ही आधुनिक हो जायगा और तब ग्रंथकारके आचार्यपदका कुछभी महत्व अथवा मूल्य नहीं रहेगा, और इसलिये उसने इतनी चालाकी एवं मायाचारीसे काम लिया कि पृष्ठ ४११ पर दिये हुए उस समयसूचक श्लोक नं० ३४३ का अर्थ ही नहीं दिया, जिसे अर्थसहित शुरूमें पृ० ११ पर प्रकट किया जा चुका है—उस स्थान पर यह ज़ाहिर तक नहीं होने दिया कि हम उसका अर्थ छोड़ रहे हैं !! अथवा उसका अर्थ नहीं हो सका !!!

इसके सिवाय, ग्रंथकी जो बातें अनुवादकको इष्ट मालूम नहीं दीं उनका या तो उसने अर्थ ही नहीं दिया और या अपने मनोऽनुकूल अन्यथा एवं विपरीत अर्थ कर दिया है ! और जो बातें मूलग्रन्थमें नहीं थीं और जिन्हें वह मूलके नाम पर प्रकट करना अथवा चलाना चाहता था उन्हें उसने प्रायः चुपकेसे मूलवाक्योंके अर्थके साथमें इस तरहसे शामिल कर दिया है जिससे हिन्दी पाठकों द्वारा वे भी मूलग्रंथकी ही बातें समझ ली जायं और उन्हें पढ़ते समय यही मालूम होता रहे कि यह सब ग्रन्थकार आचार्य महाराज ही कह रहे हैं !! इस तरह अनुवादककी निरंकुशता और उसकी उक्त मनोवृत्तिके कारण इस ग्रन्थके अनुवादमें बहुत कुछ अर्थका अनर्थ हुआ है ! और यह अनुवाद उच्छृङ्खलता, असावधानी एवं बेढंगेपन के साथ साथ अर्थकी हीनता-न्यूनता, अर्थकी अधिकता—

अतिरिक्तता (मूलबाह्यता) और अर्थके अन्यथापन (वैपरीत्य) की एक बड़ीही विचित्र मूर्ति बन गया है !! और इसलिये इसे बहुत ही विकृत तथा सदोष अनुवाद कहना चाहिये। अस्तु।

विशेष परिचय अथवा स्पष्टीकरण

अब मैं कुछ नमूनों अथवा उदाहरणोंके द्वारा अनुवादकी इस स्थितिको स्पष्ट कर देना चाहता हूं, जिससे पाठकोंको इस विषयमें कुछभी सन्देह न रहे:—

(१) पृष्ठ ९८वें पर एक श्लोक निम्न प्रकारसे अर्थसहित दिया है:—

केवलाभिधयुक्तानां यतीनां सर्वदेवताः ।

पलायिताश्च तस्माद्धि तत्प्रभावाच्च श्वानवत् ॥४२८॥

"अर्थ—श्वेताम्बर यतियोंके आराधन किये हुए समस्त देवतागण सरस्वतीके प्रभावसे पलायमान हो गये जिससे उनका समस्त अभिमान मिट्टीमें मिल गया ॥४२८॥"

इस अनुवादमें '*श्वानवत्*' पदका कोई अर्थ नहीं दिया गया, जोकि पलायमानसे पहले 'कुत्तोंकी तरह' ऐसे रूपमें दिया जाना चाहिये था। जान पड़ता है अनुवादकजी को देवताओंके लिये ग्रन्थकारकी यह कुत्तोंकी उपमा पसंद नहीं आई और इसलिये उन्होंने इस पदका अर्थ ही छोड़ दिया है! साथ ही, 'जिससे उनका समस्त अभिमान मिट्टीमें मिल गया' यह वाक्य अपनी तरफ़से जोड़ दिया है, जिसे अनुवादककी चित्तवृत्तिका एक रूप कहना चाहिये! मूलमें इस अर्थका द्योतक कोई भी शब्द नहीं है! इसी तरहका एक मूलबाह्यवाक्य पृष्ठ ९५ पर श्लोक नं० ४१२ के अर्थमें भी जोड़ा गया है, जो इस प्रकार है:—

"और श्वेताम्बर यतियोंके वस्त्र आकाशमें उड़ा देनेसे (मंत्रद्वारा भगवान् कुन्दकुन्द स्वामोके उड़ा देनेसे) उनको बड़ा ही नोचा देखना पड़ा।"

इसके सिवाय, 'केवलाभिध्रयुक्तानां' पदका जो अर्थ 'श्वेताम्बर' किया गया है वह मूलकी ('नाममात्रके' की) स्पिरिटसे बहुत कुछ हीन है—ग्रन्थकारने जिस विशेषणके साथ उन यतियोंका उल्लेख किया है उसका ठीक द्योतन नहीं करता! और इसलिये उक्त अर्थ त्रिदोषयुक्त है।

(२) पृष्ठ २१६ परके प्रथम सात श्लोकोंमें से जिस प्रकार अनुवादक महाशयने 'कर्मदहनव्रतस्य फलं श्रृणु समाधिना' इत्यादि श्लोक नं० १७८ का अर्थ बिलकुल ही नहीं दिया है, और जिसका परिचय 'कुछ विलक्षण और विरुद्ध बातें' नामक प्रकरणमें नं० १ पर दिया जा चुका है, उसी प्रकार निम्न श्लोकका भी अर्थ नहीं दिया है:—

प्राप्स्यति कां गतिं सैव तत्सर्वं कथयाम्यहं।

द्वादशानां गणानां तु दृढश्रद्धाय केवलम् ॥१८०॥

यह श्लोक इतना सरल है कि इसका अर्थ देनेमें कुछ भी दिक़्क़त नहीं हो सकती थी; परन्तु जान पड़ता है अनुवादकजीके सामने इसके 'द्वादशानां गणानां' इन पदोंने कुछ उलझन पैदा करदी है; क्योंकि उनके परममान्य पं० चम्पालाल जीने चर्चासागरकी १६ वीं चर्चामें 'गण' का अर्थ 'गणधर' सूचित किया है और उनके भाई पं० लालारामजीने उसको टिप्पणीमें 'गणान्प्रति' का अर्थ 'गणधरोंके प्रति' करके उसको पुष्ट किया है, इसलिये यदि यहाँ 'गणानां' का अर्थ वही 'गणधरोंका' किया जाता और कहा जाता कि 'वह (कर्मदहनव्रतका अनुष्ठान करने वाला) किस गतिको प्राप्त होगा उस

सबका मैं बारह गणधरोंको केवल दृढ़श्रद्धाके लिये कथन करता हूँ' तो वह जैनशास्त्रोंके विरुद्ध पड़ता; क्योंकि जैनशास्त्रोंमें भगवान् महावीरके ग्यारह गणधर माने गये हैं—बारह नहीं। और यदि 'समूहोंका' अर्थ किया जाता और उसका आशय द्वादशसभास्थित जीवोंका लिया जाता तो वह उनके भाई तथा मान्य पं० चम्पालालजीके ही विरुद्ध नहीं बल्कि खुद उनके भी विरुद्ध पड़ता; क्योंकि उन्होंने भी इस ग्रंथमें पृष्ठ ३७८ पर 'गणाः' का अर्थ 'गणधरदेव' किया है ! इसी उलझनके कारण शायद आपने इस श्लोकका अर्थ छोड़ दिया है ! यह कितनी निरंकुशता और मायाचारी है !!

(३) पृष्ठ २५१ पर ग्रन्थकारने सिद्धोंका वर्णन करते हुए उनका एक विशेषण 'पंचवर्णविराजिताः' दिया है, अनुवादकने इसका भी कोई अर्थ नहीं दिया ! इसी तरह 'निरागमाः' आदि और भी कई विशेषणपदों का अर्थ छोड़दिया है ! इस पृष्ठपरके श्लोकोंका अर्थ कितना बेढंगा और बेसिलसिले किया गया है वह सब देखने से ही सम्बन्ध रखता है। इस प्रकारकी निरंकुशता न्यूनाधिकरूपमें प्रायः सर्वत्र पाई जाती है।

(४) पृष्ठ ३२ पर एक श्लोक निम्नप्रकार से दिया है:—

धनान्धास्ते गृहे स्वस्य दासीदासान्कुलोज्झितान् ।
रक्षयिष्यान्ति पानार्थं न्यादार्थं च खलाशयाः ॥१२३॥

इसका सीधा सादा अर्थ इतना ही होता है कि 'वे धनसे अन्धे हुए दुष्टाशय लोग अपने घर पर भोजनपानके लिये अकुलीन दासीदासोंको रक्खेंगे।' परन्तु अनुवादकजीने जो अर्थ दिया है वह इस प्रकार है:—

"अर्थः—हे राजन्, पंचमकालमें धनिक लोग अपने धन के मदमें अन्धे होकर विचाररहित होजायंगे, जिससे वे अपने

गृहमें नीच और अकुलीन नौकर चाकरोंको रक्खेंगे और उनके हाथसे भोजनपान करेंगे। जिस समय कुसंगति या कुशिक्षासे धनवान लोगोंकी बुद्धि भ्रष्ट होजाती है उस समय उनका विचार भी गंदा होजाता है। उन्हें हिताहितका विवेक नहीं रहता जिससे धर्म और सदाचारकी पवित्र मर्यादा का विचार न कर अपने घरमें नीच मनुष्योंको (दासदासी) रखकर उनके हाथका भोजन करने लगजाते हैं। नीच मनुष्योंके हाथका भोजनपान करना धर्मशास्त्र की पवित्र आज्ञासे विरुद्ध है और सदाचारका लोपकरनेवाला है। जो लोग नीच मनुष्यों के हाथका भोजनपान करते हैं वे जैन नहीं हैं। उनके धर्मकी श्रद्धा नहीं है। अतएव वे नाममात्रके ही जैन हैं ॥ १२३ ॥"

पाठकजन ! देखा, कितना मूलबाह्य यह अर्थ किया गया है ! इसमें 'हे राजन्, पंचमकालमें' ये शब्द तथा 'जिससमय' से लेकर '*जैन हैं' तकका सारा कथन अपनी तरफ़से बढ़ाया गया है और उसे श्लोक नं० १२३ का अर्थ सूचित किया गया है !!* इतने परसे भी अनुवादककी तृप्ति नहीं हुई तब इसी श्लोकमें नीचके अर्थकी औरभी वृद्धि की गई है, और इसलिये १२३ नम्बर निम्न अर्थके बाद दिया जाना चाहिये था—ऊपर ग़लती से देदिया गया है।

"जो लोग अपवित्र साधनोंके साथ समुद्रयात्रा कर नीच लोगोंके हाथका अपवित्र और अभक्ष्य भोजन कर अपनेको सम्यग्दृष्टि बतलाते हैं वे श्री जिनेन्द्रदेवके आगमके श्रद्धानी नहीं हैं। तथा जो लोग ऐसे नीच पुरुषोंके हाथका भोजन कर अपनेको पंचअणुव्रतधारी बतलाते हैं वे बनावटी जैनी हैं।"

इस अंशकी समुद्रयात्रा आदि बातोंका मूलमें कहीं भी कुछ पता नहीं है। यह अंश बैरिस्टर चम्पतरायजी जैसों को

लक्ष्य करके लिखा गया है, जिन्होंने पंचअणुव्रत धारण किये थे और जो समुद्रयात्रा कर विलायत जाते हैं !! मूलके नामपर कितना बेहूदा और नीच यह आक्रमण है !!!

इसके बाद भोजनपानादिसम्बन्धी कार्योंके लिये शूद्रों को घरपर रखनेवाले श्रावकोंको श्रावक न बताकर शूद्रसमान बतानेवाले श्लोक नं० १२४ * का अर्थ थोड़ी सी गड़बड़को लिए हुए देकर अगले पूरे एक पेजपर उसका 'भावार्थ' दिया है और उसमें बहुतसी गड़बड़ मचाई गई है—जैनसिद्धान्तके विरुद्ध मुनियोंको भोजनपानके समय सातवां गुणस्थान बतलाया है ! शूद्रों के हाथका भोजन करनेवालोंको 'जैनधर्मसे रहित' क़रारदिया है, जब कि खुद शूद्र लोग व्रतों का पालन और क्षुल्लकादि पदको धारणकर उत्तम धर्मात्मा बनते हैं !! और मुसलमान भंगी चमार तथा म्लेच्छादिको जैनी बनाकर उनके साथ भोजन तथा विवाह करने वालोंको जैनमतकी आज्ञासे पराङ्मुख बतलाया है और इस विधानके द्वारा उन जैन चक्रवर्तीराजाओंको, जिनमें तीर्थङ्कर भी शामिल हैं, तथा वसुदेवजी और सम्राट चन्द्रगुप्त जैसोंको जैनधर्मसे बहिर्भूत ठहराया है जिन्होंने म्लेच्छ कन्याओंसे विवाह किये थे !!!

(५) पृष्ठ ३७ पर दिया हुआ एक श्लोक इस प्रकार है:—

शूद्रश्रावकभेदो हि दृश्यते व्रतपालनात् ।
शूद्रोऽपि श्रावको ज्ञेयो निर्व्रतः सोऽपि तत्समः ॥१२६॥

---

* यह श्लोक पिछले लेखमें 'शूद्र जलादिके त्यागका अजीब विधान' इस उपशीर्षकके नीचे दिया गया है और वहीं पर इसके मूलविषयका विचार किया गया है ।

इसका खुला अर्थ यह है कि 'शूद्र और श्रावक का भेद व्रतपालन से स्पष्ट होता है. व्रतोंका पालन करता हुआ शूद्र भी श्रावक है और व्रतरहित श्रावक को भी शूद्रसमान समझना चाहिये।'

इस सीधेसाधे और स्पष्ट अर्थको भी अपने मायाजालके भीतर छिपाकर लोगोंको आंखोंमें धूल डालने का अनुवादक महाशयने कैसा जघन्य प्रयत्न किया है वह उनके निम्न अनुवाद (अर्थ) परसे सहज ही में समझा जासकता है।

"अर्थ—शूद्र और श्रावक में यदि भेद है तो इतना ही है कि शूद्र के सोलह संस्कार के अभावसे व्रतोंका पालन—भोजन पान आदि धार्मिक क्रियाओं का पालन--नहीं होता है और श्रावकोंमें होता है। जो श्रावक अपने भोजनपान आदि धार्मिक व्रतक्रियाओं को भूलजावे—नहीं करे—तो वह शूद्रके समान ही है॥ १३६॥"

इसमें शूद्रके सोलहसंस्कारके अभाव आदि की बातको अनुवादकजीने बिलकुल अपनी तरफ़से जोड़ा है और 'व्रतपालनात्त शूद्रोऽपि श्रावको ज्ञेयो' इन शब्दोंके आशयको आप बिलकुल ही उड़ा गये हैं !! अपने इस अर्थके द्वारा आप यह प्रतिपादन करना चाहते हैं कि शूद्र व्रती नहीं हो सकता! परन्तु यह जैनशास्त्रोंकी आज्ञा और शिक्षाके बिलकुल विरुद्ध है—जैनशास्त्र शूद्रोंके श्रावकीय व्रतपालनके उदाहरणों से भरे पड़े हैं और उनमें शूद्रोंके लिये क्षुल्लकादि रूपसे उत्कृष्ट श्रावक होनेका ही विधान नहीं है बल्कि सोमदेवसूरिके निम्न वाक्यानुसार मुनिदीक्षा तकका विधान पाया जाता है:—

दीक्षायोग्यास्त्रयो वर्णाश्चतुर्थश्च विधोचितः।
मनोवाक्कायधर्माय मताः सर्वेऽपिजन्तवः॥—यशस्तिलक॥

इसके सिवाय सागारधर्मामृतमें भी 'शूद्रोऽप्युपस्कराचार-वपुः शुद्ध्याऽस्तु तादृशः' इत्यादि वाक्य के द्वारा शूद्रोंको ब्राह्मणादिकी तरह धार्मिक क्रियाओं का पूरा अधिकार दिया गया है और उक्त वाक्यकी निम्न प्रस्तावनामें उनके आहारादिकी शुद्धिका भी स्पष्ट विधान किया गया है—

"अथ शूद्रस्याप्याहारशुद्धिमतो ब्राह्मणादिवद् धर्मक्रियाकारित्वं यथोचितमनुमन्यमानः प्राह—"

फिर ब्रह्मचारीजी अथवा क्षुल्लकजी महाराजका यह कहना कैसे ठीक होसकता है कि "शूद्रके व्रतोंका पालन-भोजन-पान आदि धार्मिक क्रियाओंका पालन नहीं होता है" ? उन्होंने तो स्वयं पृष्ठ ३८० पर लिखा है कि—"नगरके समस्त नरनारीगणने इस कर्मदहनव्रतको यथोक्त विधिसे धारण किया।" नगरके समस्त नरनारीगणमें शूद्र भी आगये। जब शूद्रोंने यथोक्तविधिसे कर्मदहनव्रतका पालन किया तब फिर व्रतोंके पालन और भोजनशुद्धिकी वह बात ही कौनसी रह जाती है जिसका अनुष्ठान शूद्र न कर सकता हो ! सत् शूद्र तो मुनियों को आहार तक दे सकता है और खुद मुनि भी हो सकता है।*

खुद ग्रन्थकारने तो उक्त श्लोकके अनन्तर ही यहां तक लिखा है कि जैनधर्मको पालन करता हुआ श्वपच (चाण्डाल) भी श्रावकोत्तम (क्षुल्लक आदि) माना गया है, कुत्ता भी व्रतके योगसे देवता हो जाता है तथा एक कीड़ा भी लेशमात्र व्रतके प्रसादसे उत्तम गतिको प्राप्त होता है, और एक दूसरे स्थान

---

* प्रवचनसारकी जयसेनाचार्यकृत टीकामें सत्शूद्रके जिन-दीक्षा लेनेका विधान इस तरहसे किया गया है—"एवं गुणविशिष्ट-पुरुषो जिनदीक्षा ग्रहणे योग्यो भवति । यथायोग्यं सच्छूद्राद्यपि ।"

पर मातङ्गादिकके कर्मदहन व्रतके अनुष्ठानसे सुख पानेका उल्लेख किया है* तब क्या क्षुल्लकजी के न्यायालयमें शूद्रकी पोज़ीशन श्वपच, मातङ्ग, कुत्ते और कोढ़ेसे भी गई बीती है जो ये सब तो व्रतका पालन कर सकें परन्तु शूद्र न कर सकें? शूद्रोंके प्रति घृणा और द्वेषकी भी हद हो गई!! खेद है कि ग्रन्थकारने तो शूद्रोंके साथ इतना ही अन्याय किया था कि उनके व्रती एवं शुद्धाचरणी होने पर भी उनके हाथके भोजन-पानको निषिद्ध ठहराया था परन्तु अनुवादकजीने चार कदम आगे बढ़कर मिथ्या और विपरीत अनुवादके द्वारा उनके व्रत-पालन अथवा धार्मिकक्रियापालनके अधिकारको ही हड़पना चाहा है!! इस मायाचारी और कपटकलाका भी कुछ ठिकाना है!!! ऐसे ही प्रपञ्चमय अनुवादोंके कारण मैंने इस ग्रन्थको 'एक तो करेला और दूसरे नीम चढ़ा' की कहावतको चरितार्थ करने वाला बतलाया है।

अनुवादकजीकी नसोंमें जातिभेद और जातिमदका कुछ ऐसा विषम विष समाया है कि एक स्थान पर तो (पृष्ठ ६ के फुटनोटमें) वे यहाँ तक लिख गये हैं कि—"जाति, कुल अनादिनिधन हैं, और उनका सम्बन्ध नीच ऊंच गोत्रसे है। ऐसा नहीं है कि जिसका रोज़गार (धन्धा) ऊंचा वह ऊंच और जिसका धन्धा नीचा वह नीच हो।" और इसके द्वारा वे अनजानमें अथवा मूर्छित अवस्थामें यह सुझा गये हैं कि एक वैश्यादि ऊंच जातिका जैनी यदि भङ्गी, चमार, खटीक, चाण्डाल अथवा कसाईका भी धन्धा करने लगे तो भी वह ऊंच ही रहेगा—नीच नहीं होने पायेगा। और एक सत्शूद्र

---

* इन कथनोंके सूचक वाक्य 'कर्मसिद्धान्तकी नई ईजाद' नामक उपशीर्षकके नीचे उद्धृत किये जा चुके हैं।

जैनी बारह व्रतोंका उत्तम रीतिसे पालन करता हुआ तथा क्षुल्लकके पद पर विराजमान होता हुआ भी 'अपने शरीरकी स्थितिपर्यंत' नीच ही रहेगा--ऊंच नहीं हो सकेगा !! धन्य है आपके इस ऊंच-नीचके सिद्धान्तको !!! जैनाचार्योंने तो—

"चातुर्वर्ण्यं तथान्यच्च चाण्डालादिविशेषणं ।

सर्वमाचारभेदेन प्रसिद्धं भुवन गतम् ॥

"अनार्यमाचरन् किंचिज्जायते नीचगोचरः ।

—पद्मचरिते, रविषेणः।

"आचारमात्रभेदेन जातीनां भेदकल्पनम् ।

न जातिर्ब्राह्मणीयास्ति नियता क्वापि तात्विकी ॥

"गुणैः सम्पद्यते जातिर्गुणध्वंसैर्विपद्यते ।

—धर्मपरीक्षायां, अमितगतिः।

"वृत्तिभेदा हि तद्भेदाच्चातुर्विध्यमिहाश्नुते ।

—आदिपुराणे, जिनसेनः।

इत्यादि वाक्योंके द्वारा आचारभेद, गुणभेद अथवा वृत्ति (धंधा) भेदके कारण जातिभेदको कल्पित माना है और नीच उसे बतलाया है जिसका आचरण अनार्य हो। और स्वामी समन्तभद्रने तो *"यो लोके त्वा नतः सोऽतिहीनोऽप्यति गुरुर्यतः"* इत्यादि वाक्यके द्वारा यहां तक सूचित और घोषित किया है कि 'नीचसे नीच कहा जाने वाला मनुष्य भी जैनधर्मको धारण करके इसी लोकमें अति उच्च बन सकता है*'। तब अनुवादकजी जाति और कुलको अनादिनिधनताके स्वप्न देख

---

* विशेष जाननेके लिये देखो, 'अनेकान्त' किरण १ ली, २ री पृष्ठ ११, १२ तथा ११५ आदि

रहे हैं ! और शूद्रमात्रका घोर तिरस्कार कर रहे हैं !! इससे पाठक समझ सकते हैं कि वे जैनाचार्यों के वाक्योंको अव-हेलना करते हुए जैनधर्मके दायरेसे कितने अधिक बाहर जा रहे हैं !!!

(६) पृष्ठ ३७७ पर एक श्लोक निम्न प्रकारसे दिया है, जिसके मूलअर्थका विचार 'कर्म सिद्धान्तकी नई ईजाद' नामक उपशीर्षकके नीचे किया जा चुका है:—

म्लेच्छोत्पन्ना नरा नार्यः मृत्वाहि मगधेश्वर !

भवन्ति व्रतहीनाश्च इमे वामाश्च मानवाः ॥१७५॥

इसमें साफ़ तौरपर यह कहा गया है कि 'हे मगधेश्वर ! म्लेच्छोंसे उत्पन्न हुए स्त्री-पुरुष मरकर निश्चयसे व्रतहीन मनुष्य स्त्री-पुरुष होते हैं'। इस सीधे सादे स्पष्ट अर्थके विरुद्ध अनुवादकजीने जो अद्भुत लीला रची है और जो प्रपंचमय अर्थ किया है, अब उसे भी देखिये। वह इस प्रकार है—

''अर्थ—जिनके यहां पुनर्विवाहादि मलिन आचरण हैं, जिनको उत्तम व्रत धारण करनेकी योग्यता ही नहीं प्राप्त होती है उनको म्लेच्छ वा शूद्र कहते है। शूद्रोंको शीलव्रत किसी तरह भी पालन नहीं हो सकता है। क्योंकि उनके यहां उनकी जातिमें पुनर्विवाह होता है। पुनर्विवाह व्यभिचार है। व्यभि-चार करने वालोंके शीलव्रत हो ही नहीं सकता है। शीलव्रतके अभावसे अन्य व्रतोंका पालन भी परिपूर्ण नहीं होता है। अत-एव ऐसे जीव मरकर व्रतविहीन होते हैं।''

पाठकजन ! देखा, कितना मूलबाह्य यह सब अर्थ है ! और कैसी निरंकुशतासे काम लिया गया है !! इस सारे अर्थमें "मरकर व्रतविहीन होते हैं'' इन अन्तिम शब्दोंके सिवाय और

कोई भी बात मूलके शब्दोंसे सम्बन्ध नहीं रखती !!! और इस लिये इसे अनुवादकजीके विचित्र अथवा विकृत मस्तिष्ककी ही एक उपज कहना चाहिये ! उन्हे इतनी भी समझ नहीं पड़ी कि लोग मेरे इस साक्षात् झूठ पर कितना हंसेंगे और मेरे इस ब्रह्मचारी वेष तथा सत्यव्रतका कितना मखौल उड़ाएंगे ! क्या मस्तिष्कविकारके कारण उन्होंने यह समझ लिया था कि मेरे इस अनुवादको कोई संस्कृत जानने वाला पढ़ेगा ही नहीं ? परन्तु संस्कृत जानने वालेको छोड़िये, साधारण हिन्दी जानने वाला भी यदि मूलके साथ इस अर्थको पढ़े तो वह इतना तो समझ सकता है कि मूलमें पुनर्विवाह, शूद्र, शीलव्रत और व्यभिचार जैसी बातोंका कोई उल्लेख नहीं है— उनका नाम, निशान और पता तक भी नहीं है । धन्य है आप के इस अद्भुत साहसको ! 'चे मर्दाना अस्त दुज़दे कि बकफ़ चिराग़ दारद * !!'

इस अर्थ तथा पिछले नम्बरमें दिये हुए अर्थ परसे शूद्रों के प्रति अनुवादकजीकी चित्तवृत्तिका अच्छा ख़ासा परिचय मिल जाता है और यह मालूम हो जाता है कि वे किस तरह की खींचातानी करके और कपटजाल रचकर अपने विचारोंको जनताके ऊपर लादना चाहते हैं । परन्तु जो लोग जैन शास्त्रों का थोड़ासा भी बोध रखते हैं वे म्लेच्छ और शूद्रके भेदको खूब समझते हैं, शूद्रको आर्य जानते हैं—म्लेच्छोत्पन्न नहीं— और दोनोंको ही श्रावकके बारह व्रतोंके पालनका अधिकारी मानते हैं । उनके गले यह बात नहीं उतर सकती कि शूद्र बारह व्रतोंका पालन करता हुआ भी शीलव्रतका पालन नहीं कर सकता—वह तो उन्हीं व्रतोंमें एक व्रत है । और न यही गले उतर सकती है कि व्यभिचार करने वाला कभी शीलव्रती

* क्या ही मर्दाना चोर है कि हाथमें चिराग़ लिये हुए है !!

हो ही नहीं सकता। चारुदत्तादि कितने ही महाव्यभिचारियों का तो पीछेसे इतना सुधार हुआ है और वे इतने पूरे ब्रह्मचारी एवं धर्मात्मा बने हैं कि बड़े बड़े आचार्यों को भी उनकी प्रशंसा में अपनी लेखनीको मुक्त करना पड़ा है। फिरभी यहां अनुवादकजीकी आँखे खोलनेके लिये दो ऐसे स्पष्ट प्रमाण उपस्थित किये जाते हैं जिनमें पूजकके दो भेदोंमें से आद्यभेद नित्यपूजक का स्वरूप बतलाते हुए और उसमें शूद्रका भी समावेश करते हुए शूद्रको भी 'शीलवान्' तथा 'शीलव्रतान्वित' होना लिखा है—बाकी दृढ़व्रती, दृढ़ाचारी और शौचसमन्वित होनेकी बात अलग रही:—

ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यः शूद्रोवाऽऽद्यः सुशीलवान्।
दृढव्रतो दृढाचारः सत्यशौचसमन्वितः ॥१७॥

—पूजासार।

ब्राह्मणादिचतुर्वर्ण्य आद्यः शीलव्रतान्वितः।
सत्यशौचदृढाचारो हिंसाद्यव्रतदूरगः ॥९-१४३॥

—धर्मसंग्रहश्रावकाचार।

यहां पर मुझे अनुवादकजीके प्रतिपाद्य विषयकी कोई विशेष आलोचना करना इष्ट नहीं है—उनकी निरंकुशता और उसके द्वारा घटित अनर्थका ही कुछ दिग्दर्शन कराना है। इसलिये इस विषयमें अधिक कुछ लिखना नहीं चाहता। हाँ, इतना ज़रूर कहना चाहता हूं कि अनुवादकजीने यह लिख कर कि जिनकी जातिमें पुनर्विवाह होता है उनके शीलव्रतका किसी तरह भी पालन नहीं हो सकता, एक बड़ा ही अनर्थ घटित किया है, और वह यह कि इससे उन्होंने अपने गुरु आचार्य शांतिसागरजीके ब्रह्मचर्यको भी सशंकित बना दिया है; क्योंकि उनकी जातिमें विधवाविवाह होता है। तब शिष्य

को दृष्टिमें आचार्य महाराज शीलव्रती भी नहीं ठहर सकते !! पूर्णब्रह्मचारी होनेको तो बात हो दूर है !!! वाह ! शिष्यकी यह कैसी विचित्र लीला है जिस पर आचार्य महाराज मुग्ध हैं !!!

(७) तेरहपंथियोंसे झड़पके समय भगवानके मुखसे एक वाक्य निम्न प्रकार कहलाया गया है, जिसमें लिखा है कि—'हे मगधेश्वर ! ग्रन्थोंका लोप करनेके पापसे वे सब श्रावक निश्चय ही नरकमें जायंगे':—

ग्रन्थलोपजपापेन ते च श्राद्धानिकाः खलु ।
नरकावनौ च यास्यन्ति सर्वे हि मगधेश्वर ॥६८३॥

इस वाक्यके द्वारा शुद्धाम्नायके संरक्षकों एवं तेरहपन्थके प्रसिद्ध विद्वान पं० टोडरमलजी आदिके विरुद्ध (जिन्होंने भट्टारकीय साहित्यके कुछ दूषित ग्रन्थोंको अप्रमाण ठहराया था) नरकका फ़तवा निकाल कर अथवा उन ग्रन्थोंको न मानने वाले सभी तेरहपन्थियोंके नाम नरकका फ़र्मान जारी करके ग्रन्थकारने अपने संतप्त हृदयका बुखार निकाला था। अन्यथा, किसी ग्रंथको सदोष जानकर उसके माननेसे इन्कार करनेमें नरकका क्या सम्बन्ध ? नरकायुके आस्रवका कारण तो बहुआरम्भ और बहुपरिग्रहको बतलाया गया है। परन्तु अनुवादकजीको उन्हें केवल नरक भेजना काफ़ी मालूम नहीं दिया और इसलिये उन्होंने अर्थ देते हुए उसके साथमें उनके निगोद जानेकी बात और जोड़ दी है ! और फिर इतने परसे भी तृप्त न होकर इसपर जो मग़ज़ी चढ़ाई है—इसके 'ग्रन्थलोपजपापेन' पद पर जो नोट रूप गोट लगाई है—वह इस प्रकार है:—

"ग्रन्थोंको असत्य ठहराना मानो ग्रंथोंका लोप करना है। इसके समान संसारमें अन्य पाप नहीं है। आगमको

सत्यता व प्रामाणिकता सर्वज्ञ प्रभुकी सत्यता पर निर्भर है। सर्वज्ञ प्रभु वीतराग, त्रिकालमें उनकी प्रामाणिकता स्वतः सिद्ध है। जो मनुष्य सर्वज्ञके वचनोंमें अपनी दुष्ट बुद्धिकी कल्पना से असत्यता प्रकट कर प्रामाणिकता नष्ट करे तो वह आगम का या ग्रंथका लोपी है। उसके न तो आगमकी श्रद्धा है और न सर्वज्ञ प्रभुकी। ऐसी अवस्थामें वह अपनी इंद्रियजनित बुद्धिको ही कुत्सित तर्क और अनुमानजनित विचारसे स्थिर रखकर शास्त्रों की मिथ्या आलोचना कर पापका भागी बनता है। कितने ही ढोंगी—जिनधर्मको श्रद्धासे रहित जैन सुधारक—मिथ्यात्वके उदयसे शास्त्र और गुरुओंकी मिथ्या समालोचना करते हैं, सत्य शास्त्रोंमें अवर्णवाद लगाकर सर्वज्ञ प्रभुके आगमको असत्य ठहराना चाहते हैं। उनको संस्कृत-प्राकृतका ज्ञान नहीं है, आगमका श्रद्धान नहीं है। अपने आप श्रावक बन कर ब्रह्मदत्त के समान प्रत्यक्ष में पतित होते हैं।"

पाठकजन! देखा, ग्रंथसामान्य अथवा ग्रन्थ मात्रको आगमके साथ और सर्वज्ञके साथ जोड़कर अनुवादक महाशय ने यह कैसा गोलमाल करना चाहा है, कैसा मायाजाल रचा है और उसमें भोले भाइयोंको फंसाकर उन्हें अंधश्रद्धालु बनाने का कैसा जघन्य यत्न किया है! क्या त्रिवर्णाचारों जैसे ग्रंथ, भद्रबाहु संहिता जैसे ग्रंथ, उमास्वामि-श्रावकाचार जैसे ग्रंथ, चर्चासागर जैसे ग्रंथ और सूर्यप्रकाश जैसे ग्रंथ आगम ग्रंथ हैं? सर्वज्ञ भगवानके कहे हुए हैं? यदि नहीं, तो फिर ऐसे ग्रंथोंकी आलोचनासे और उनके अप्रामाणिक ठहराये जानेसे विचलित होनेकी क्या ज़रूरत है? क्या ख़ास सर्वज्ञकी मुहर लगे हुए कोई ग्रंथ हैं, जिनकी परीक्षा अथवा आलोचना न होनी चाहिये? यदि नहीं—प्रत्युत इसके ऐसे उल्लेख भी मिलते हैं

कि 'भ्रष्टचारित्र पंडितों और बठरसाधुओंने (धूर्त मुनियोंने) निर्मल जैनशासनको मलिन कर दिया है'* तो फिर जिज्ञासु सत्पुरुषोंके लिये परीक्षाके सिवाय और दूसरा चारा (उपाय) हो क्या हो सकता है? अथवा क्या ऐसी नकली मुहर भी सर्वज्ञकी मुहर होती है जैसी कि इस सूर्यप्रकाश पर लगाई गई है? और सर्वज्ञने कहा ही कब है कि मेरे वचनोंकी जांच अथवा परीक्षा न की जाय? सर्वज्ञोंका शासन कोई अन्धश्रद्धा का शासन नहीं होता। उसमें तो परीक्षकोंके लिये खुला चैलेञ्ज रहता है कि वे आएं और परीक्षा करें। इसीमें उनका और उनके शासनका महत्व है। समन्तभद्र जैसे महान् आचार्यों ने तो खुद 'सर्वज्ञ' की भी परीक्षा की है, फिर उनके नाम की मुहर लगे ग्रन्थोंकी तो बात ही क्या है? परीक्षा और समालोचनाका मार्ग सनातनसे चला आया है। जिस समय दिगम्बर और श्वेताम्बर संघभेद हुआ था उस समय दिगम्बर महर्षियोंने श्वेताम्बराचार्यों द्वारा संकलित आगम ग्रन्थोंको अप्रामाणिक और अमान्य ठहराया था। इस अप्रामाणिकता और अमान्यता के द्वारा उन्होंने जो आगम ग्रंथोंके लोपका प्रयत्न किया तो क्या इससे वे महर्षिगण नरक निगोदके पात्र होगये? और उन ग्रंथोंको अमान्य क़रार देनेवाला सारा दिगम्बरसमाज भी क्या नरकनिगोदमें पड़ेगा? इसपर भी अनुवादक जीने कुछ विचार किया है या योंही अनाप सनाप लिख गये? इसके सिवाय, इसी ग्रंथमें तेरहपन्थीग्रन्थों के विरुद्ध कितनाही ज़हर उगला गया है—उनमें जो पञ्चामृत अभिषेक आदिका निषेध किया गया है, उसकी असभ्यतापूर्ण कड़ी आलोचना की गई है

---

* पंडितैर्भ्रष्टचारित्रैः बठरैश्चतपोधनैः।
शासनं जिनचन्द्रस्य निर्मलं मलिनीकृतम्॥

और इसतरह उन ग्रन्थोंके लोपका प्रयत्न किया है, तब क्या अनुवादकजी इस ग्रन्थलोपज पापके कारण ग्रंथकारको और खुद अपनेको भी नरक निगोद भेजनेके लिए तैयार हैं। यदि नहीं, तो फिर इस व्यर्थके शब्दजालसे क्या नतीजा है ?

क्या असत्य-ग्रंथोंको असत्य ठहरानेमें भी कोई पाप है ? झूठे, जाली, मिथ्यात्वपूरित एवं धूर्तों के रचे हुए विषमिश्रित भोजनके समान धर्मप्राणोंका हरण करनेवाले इन त्रिवर्णाचारादि जैसे अहितकारी ग्रंथोंका तो जितना भी शीघ्र लोप हो जाय उतना ही अच्छा है। जैनसाहित्यके कलंकरूप ऐसे ग्रंथोंका वास्तविक स्वरूप प्रकट करके उनके लोपमें जो कोई भी मदद करता है वह तो जैनशासनकी, जैनागमकी, जैनाचार्योंकी अथवा यों कहिये कि सत्यार्थ आप्त-आगम-गुरुओंकी सच्ची सेवा करता है। सत्यके लिए आलोचना और परीक्षा की कोई चिन्ता नहीं होती। जिसके पास शुद्ध और खालिस सुवर्ण है वह इस बातसे कभी नहीं घबराता कि उसके सुवर्णको कोई घिसकर, छेदकर अथवा तपाकर देखता है। प्रत्युत इसके, जिसके पास खोटा माल है अथवा जाली सिक्का है वह सदा उसके विषय में सशंकित रहता है और कभी उसे खुली परीक्षाके लिए देना नहीं चाहता। यही वजह है जो प्राचीन एवं महान् आचार्योंने कभी परीक्षाका विरोध नहीं किया, वे बराबर डंकेकी चोट यही कहते रहे कि खूब अच्छी तरहसे परीक्षा करके धर्मको ग्रहण करो, अन्धश्रद्धालु मत बनो; क्योंकि उन्हें अपने धर्मसिद्धान्तों की असलियत एवं सत्यता पर पूरा विश्वास था और वे समझते थे कि जो बात परीक्षापूर्वक ग्रहण की जाती है उसमें दृढ़ता एवं स्थिरता आती है और उसके द्वारा विशेषरूपसे कल्याण सध सकता है।

परन्तु भ्रष्ट एवं शिथिलाचारी भट्टारकों और उनके पंडे-पोपों अथवा अनुयायियोंने चूंकि अपने लौकिक स्वार्थोंकी सिद्धिके लिये ग्रंथोंमें बहुत कुछ मिलावट की है और अपने जाली सिक्कोंको तीर्थंकरों तथा प्राचीन ऋषियोंके नामसे चलाना चाहा है, इसलिये *"पापाः सर्वत्र शंकिताः"* की नीतिके अनुसार उन्हें बराबर इस बात की चिन्ता और भय रहा है कि कहीं उनका यह कपट-प्रबन्ध किसी पर खुल न जाय, और इसीसे वे अनेक प्रकार के उपदेशों आदि द्वारा ऐसी रोकथाम करते आये हैं, जिससे लोग तुलनात्मक पद्धतिसे अध्ययनकर ग्रंथोंकी परीक्षामें प्रवृत्त न हों, उनपर कुछ आपत्ति न करें और जो कुछ उनमें लिख दिया गया है उसे बिना 'चूं'चरा' किये अथवा कान हिलाये चुपचाप मानलिया करें! और शायद यही वजह थी जो वे आमतौर पर गृहस्थोंको ग्रंथ पढ़नेके लिये प्रायः नहीं देते थे, उन्हें पढ़नेका अधिकारी नहीं बतलाते थे और खुद ही अपनी इच्छानुसार उन्हें ग्रंथोंकी कुछ बातें सुनाया करते थे—यह सब तेरहपन्थके उदयका ही माहात्म्य है जो सबके लिये ग्रन्थोंका मिलना इतना सुलभ होगया है। इस ग्रन्थमें भी भट्टारक गुरुओं (जिनाप्तपुरुषों) के मुखसे ग्रंथोंके सुननेकी प्रेरणाकी गई है, जिसकी सीमाको बढ़ाते हुए अनुवादकजीने यहाँ तक लिख दिया है कि "ग्रन्थोंका स्वाध्याय गुरु मुखसे ही श्रवण करना चाहिये !!" और उक्त श्लोक नं० ६८३ से ११ श्लोक आगेही सम्यग्दर्शनका विचित्र लक्षण वाला वह श्लोकभी दिया है जिसमें ग्रन्थकारोंने ग्रन्थोंमें जो कुछ लिख दिया है उसीके माननेको सम्यग्दर्शन बतलाया है ! और जिसकी आलोचना 'कुछ विलक्षण और विरुद्ध बातें' नामक प्रकरणमें नं० ६ परकी जा चुकी है।

खुद अनुवादकजीने जानबूझ कर इस ग्रंथके अनुवादमें

बहुत कुछ अर्थका अनर्थ कियाहै और कितनीही झूठी तथा निःसार बातें अपनी तरफ़से मिलाई हैं, जैसाकि अब तककी और आगेकी भी आलोचनाओंसे प्रकट है। फिर वे इस बात को कैसे पसन्द कर सकते हैं कि कोई इस ग्रन्थकी समालोचना करे और उनके दोषोंको दिखलाए। इन सब बातोंको लेकर ही वे समालोचनाके विरोधी बने हुए हैं! अपने उन वर्तमान गुरुओंकी मानमर्यादाका भी उन्हें ख़याल है जिन्हें वे अपनी स्वार्थ-सिद्धिका साधन बनाये हुए हैं—उनकी समालोचनाको भी वे नहीं चाहते। इसीलिये ग्रन्थोंकी समालोचनाके प्रसंग पर गुरुओंकी समालोचनाको भी उन्होंने साथमें जोड़ दिया है। चूंकि इन दोनोंकी समालोचनाका भय उन्हें सुधारकोंकी तरफ़ से ही है, इसीसे वे सुधारकोंके विरुद्ध उधार खाये बैठे हैं और उन्होंने सुधारकोंको "ढोंगी, जिनधर्मकी श्रद्धासे रहित" आदि कहकर उनके विरुद्ध कितनीही बेतुकी बातें लिख डाली हैं! अन्यथा, उनके इस लिखनेमें कुछभी सार नहींहै। और उनका यह सारा नोट बिलकुल नासमझी, अविचार, द्वेषभाव और अनुचित पक्षपातको लिये हुए है।

(८) पृष्ठ १७१ पर एक श्लोक निम्न अर्थके साथ दिया है :—

दिव्यध्वनिमयी वाणी वीतरागमुखोद्भवा।
साप्यस्मिन्नास्ति भो भव्याः सर्वद्वापरखंडका ॥ १०९ ॥

"अर्थ—साक्षात् तीर्थङ्कर केवलीका अभाव होनेसे साक्षात् दिव्यध्वनिका भी अभाव है जिससे सर्व सन्देह दूर होता था। परन्तु पंचमकालमें जिनागम ग्रन्थोंमें वह दिव्यध्वनि आचार्योंकी परम्परासे ग्रथितकी है। जिनागम ग्रंथोंमें केवली भगवानकी दिव्यध्वनिके सिवाय एक अक्षरमात्रभी स्वकल्पित नहीं है। न राग द्वेष या प्रतिष्ठा कीर्ति आदिके गौरवसे वीत-

राम योगियोंने उस दिव्यध्वनिमें व्यतिक्रम किया है। इसलिए परमागमके शास्त्र सब दिव्यध्वनि रूप ही हैं। जो प्रामाणिकता-सत्यता और निर्दोषता दिव्यध्वनिकी है वही प्रामाणिकता-सत्यता-निर्दोषता और अबाधता ग्रंथोंको है।"

इस अर्थमें पहला वाक्य तो मूलके अधिकांश आशयको लिये हुए है, बाकी 'परन्तु' से प्रारम्भ होकर अन्त तकका सारा अर्थ मूलके साथ कोई खास सम्बन्ध नहीं रखता—वह सब अनुवादकजीके द्वारा कल्पित किया और बढ़ाया गया है! इस बढ़े हुए अंशके द्वारा भी अनुवादकजीने भोले भक्तोंको फंसाने के लिये वही मायाजाल रचा है जिसका उल्लेख पिछले नम्बर (७) में किया जाचुका है। आप इसके द्वारा भोले भाइयोंको जिनागम परमागमके भुलावेमें डालकर और अन्तको जैन कहे जानेवाले सब ग्रन्थोंको एक आसनपर बिठलाकर उनके हृदयों पर यह सिक्का जमाना चाहते हैं कि भट्टारकीय साहित्यके इन त्रिवर्णाचारों तथा सूर्यप्रकाश जैसे ग्रन्थोंमें भी जो कुछ लिखा हुआ है वह सब भगवानकी दिव्यध्वनिमें ही प्रकट हुआ है—एक अक्षरभी उससे बाहरका नहीं है, और इसलिए इन ग्रन्थोंकी सब बातोंको मानना चाहिए। पाठकजन! देखा, अनुवादकजीका यह कितना असत्साहस, खोटा अभिप्राय तथा छलपूर्ण व्यवहार है और इसके द्वारा वे कैसी ठगविद्या चलाना चाहते हैं! इस ग्रंथमें, जिसे खुद अनुवादकजीने "ग्रंथराज" (पृष्ठ ४०३) तथा "जिनागमस्वरूप" (४०८) लिखा है और ऐसी जिनवाणी प्रकट किया है जो भगवान् महावीरके समयसे अबतक "वैसी ही अविच्छिन्न धाराप्रवाह-रूप चली आई है" (४०३), भगवान् महावीर और उनकी वाणीकी कैसी मिट्टी खराबकी गई है, यह बात अब पाठकोंसे छिपी नहीं रही और इसलिये वे अनुवादकजीके उक्त शब्दोंका

मूल्य भले प्रकार समझ सकते हैं और उनकी लीलाको अच्छी तरह पहचान सकते हैं। इस विषयके विशेष अनुभवके लिये उन्हें 'ग्रंथपरीक्षा' के तीनों भाग और 'जैनाचार्योंका शासन-भेद' नामकी पुस्तकको भी देख जाना चाहिये *। फिर उनके सामने अनुवादकजी जैसोंका ऐसा मायाकोट क्षणभर भी खड़ा नहीं रह सकेगा।

(९) पृष्ठ १३७, १३८ पर जैनधर्मका महत्व गिर जाने और उसकी न्यूनताका कारण बतलाते हुए तीन श्लोक निम्न प्रकारसे दिये हैं:—

"ह्यस्त्यनन्तश्च संसारे पक्षः स्यात् यस्य दृश्यते।
महत्वत्वं च तस्यैव तदृऋते अमहत्वता ॥६३८॥
"मित्रकाले च तस्यैव पालका धारका नृपाः।
प्रजाःसर्वा द्विजाःसर्वे अतः सर्वेषु भो बुधाः ॥६३९॥
"उत्तमता च ह्यस्यैव अन्यस्य न्यूनता खलु।
तद् ऋते ननु विज्ञेयं विपरीतस्य कारणम् ॥६४०॥

इनमें सिर्फ इतनाही कहा गया है कि—'संसारमें जिस धर्मका पक्ष अनन्त है—बहुत अधिक जनता जिसके पक्षमें होती है—उसीका महत्व दिखलाई पड़ता है। प्रत्युत इसके—अधिक जनता पक्षमें न होनेपर—महत्व गिर जाताहै। चतुर्थ-कालमें इसी जैनधर्मके पालक-धारक-राजा थे, सारी प्रजा थी और सारे द्विज (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य) थे। इसीलिये हे बुध जनो! सब धर्मोंमें इसीकी उत्तमता थी—दूसरोंकी न्यूनता

* लेखककी लिखी हुई सब पुस्तकें "जैनग्रन्थरत्नाकर कार्यालय हीराबाग, पो० गिरगाँव, बम्बई" से मिलती हैं।

थी । उन सब राजा, प्रजा और द्विजोंका जैन न रहना ही इस धर्मकी न्यूनताका कारण है'।

इस सीधे सादे स्पष्ट अर्थके विरुद्ध अनुवादकजीने जो अर्थ दिया है वह इसप्रकार है :—

"अर्थ—हे राजन्, कलिकालमें इस संसारमें जिसके पक्षमें बहुतसी संख्या है वह अपना बल प्रकट करेगा, उसका महत्व प्रकट होगा । और जिनके पक्षमें संख्या स्वल्प है वे सर्वांग शक्तिशाली होनेपर भी अपना महत्व प्रकट नहीं कर सकेंगे । अपना जैनधर्म यद्यपि संसारमें सर्वोत्कृष्ट है, सर्वोत्तम है, पवित्र है, सदाचारसे परिपूर्ण है, परन्तु राजाओंका पक्ष न रहनेसे कमज़ोर होगया है । इसी प्रकार मुनिवर्गका पक्ष जब से कम होने लगा है तबसे उसका महत्व छुपता जाता है । इसलिये जो लोग धर्मका महत्व प्रकट करना चाहते हैं उनको धर्मगुरुओंकी आज्ञा शिरोधार्य कर धर्मके रहस्य जाननेवाले सच्चे विद्वान् त्यागियोंकी पक्षमें रहकर अपने धर्मकी रक्षा और वृद्धि करनी चाहिये । जो सुधारक मुनिगण और विद्वानोंकी सत्य और आगमोचित पक्षको छोड़कर धर्मके बहाने अपना स्वार्थ सिद्ध करना चाहते हैं और धर्मकी पवित्रता, विधवा-विवाह, जाति-पांति-लोप और विजातीयविवाह आदि धर्म-विरुद्ध कारणोंसे नष्ट करना चाहते हैं उनको विचार करना चाहिये कि इस प्रकार पक्षभेद करदेनेसे धर्मका सत्यानाश ही होगा, समुन्नति नहीं ॥ ६३८ ॥"

—"चतुर्थकालमें इस जैनधर्मके प्रतिपालक राजा और ब्राह्मणादि सभी प्राणी थे । इसलिये इसका डंका सर्वत्र अवि-च्छिन्नरूपसे बजता था ॥ ६३९ ॥"

—"यह धर्म सर्वोत्कृष्ट है । त्रिलोक पूजित है । और सर्वमान्य है । और धर्म इस (जैनधर्म) से सब बातोंमें अधम

हैं। परन्तु जैनधर्मका पक्ष मुनियोंके सदुपदेशके बिना समस्त जीवोंको मिलना कठिनहै। इसलिये इस जैनधर्मके पालन करने वालोंकी संख्या कम हो गई है। इसलिये मुनिधर्म और सच्चे आगमके जानकार विद्वानोंकी पक्षको एकदम मज़बूत बना देना चाहिये जिससे धर्मकी विपरीतता नष्ट हो जाय ॥ ६४० ॥"

यह सब अर्थ (अनुवाद) मूलसे कितना बाह्य और विपरीत है उसे बतलानेकी ज़रूरत नहीं! सहृदय पाठक सहज ही में तुलना करके उसे जान सकते हैं। ऐसे अनुवादोंको अनुवाद नहीं कहा जासकता—ये तो पूर्वोल्लेखित अनुवादोंकी तरह अनुवादकजीकी निरंकुशताके जीते जागते उदाहरण हैं! यहां पर मैं अपने पाठकोंको सिर्फ इतना ही बतला देना चाहता हूं कि अनुवादकजीने जैनियों अथवा पाक्षिक श्रावकोंकी संख्यावृद्धिकी बातको गौण करके तथा राजा प्रजा और द्विजों को जैनी बनानेकी बातको भुलाकर इन श्लोकोंके अर्थके बहाने धर्मगुरुओं (भट्टारकमुनियों) की आज्ञाको शिरोधार्य करने, उनकी तथा उनके आश्रित अपने जैसे त्यागी विद्वानों की पक्षमें रहने और उस पक्षको मज़बूत बना देनेकी प्रेरणारूप जो यह अप्रासंगिक तान छेड़ी है और सुधारकोंपर बिना बात ही व्यर्थका आक्रमण किया है वह सब भट्टारकीय मार्गको निष्कंटक बनानेकी उनकी एक मात्र धुन और चिन्ताके सिवाय और कुछ भी नहीं है—वे लुप्तप्राय भट्टारकीय मार्गको पुनः प्रतिष्ठित कराकर उसे चलाना चाहते हैं! इसीसे वे शान्तिसागर जैसे मुनियोंके पीछे लगे हैं, उन्हें पक्षापक्षी की दलदल तथा सामाजिक रागद्वेषकी कीचमें फंसा रहे हैं और उनके सहयोगसे इस 'सूर्यप्रकाश' जैसे भट्टारकीय साहित्यके ग्रन्थों का प्रचार कर रहे हैं!! फिर बेप्रसंग—बिना प्रसंग (मौक़े बेमौक़े)—ऐसी बेहयाईकी बातें न करें तो क्या करें?

खेद है कि अपनी धुनमें अनुवादकजी यह तो लिख गये कि "मुनिधर्मका पक्ष जबसे कम होने लगा तबसे उसका महत्व छुपता जाता है" परन्तु उन्हें यह समझ नहीं पड़ा कि मुनियों का पक्ष कम क्यों होने लगा! क्या मुनियोंका पक्ष कम होने और उनका महत्व गिर जानेका उत्तरदायित्व भी गृहस्थों के ऊपर है?—मुनियोंके ऊपर नहीं? कदापि नहीं। मुनियोंमें शिथिलाचार आजाने और उनका आचरण मुनियोंके योग्य न रहनेके कारण ही उनका पक्ष एवं महत्व गिरा है। "निर्जरेव गुणैर्लोके पुरुषो याति पूज्यताम्" की नीतिके अनुसार हरएक मनुष्य अपने गुणोंके कारण ही लोकमें पूजा-प्रतिष्ठाको प्राप्त होता है और जनताको अपने पक्षमें कर लेता है। एक महात्मा गांधीने अपने महान् गुणोंके कारण ही संसारको हिला दिया और असंख्य जनता को अपने पक्षमें कर लिया। इससे स्पष्ट है कि मुनियोंके पक्षका गिरना और उनके महत्त्वका लुप्त हो जाना खुद उन्हींकी त्रुटियों तथा दोषों पर अवलम्बित है। ऐसी हालतमें अनुवादकजीका, मुनियों को अपनी त्रुटियों तथा दोषों को सुधारनेका उपदेश न देकर गृहस्थोंको ही उनकी आज्ञाको शिरोधारण करने और उनको पक्षको मज़बूत बनानेका उपदेश देना कहाँ का न्याय है? सिंहवृत्तिके धारक और स्वावलम्बी कहे जानेवाले मुनि तो अकर्मण्य बने रहें और गृहस्थ लोग उनके पक्षको मज़बूत करते फिरें, यह कैसी विड-म्बना जान पड़ती है! ऐसी विडम्बनाका एक नमूना यह भी देखनेमें आता है कि मुनिलोग गृहस्थोंसे 'आचार्यपद' लेने लगे हैं!! जान पड़ता है, अनुवादकजीको मुनियोंका सुधार इष्ट नहीं है; क्योंकि वे शिथिलाचारको पुष्ट करनेवाली भट्टारकी चलाना चाहते हैं और इसीलिये उन्होंने मुनियोंको उनकी त्रुटियों तथा दोषोंके सुधार का उपदेश नहीं दिया!! इसी

तरहकी एक बात उन्होंने पृष्ठ १३५ के फुटनोटमें भी जोड़ी है—लिखा है कि "कालदोषसे अपने धर्मभाई ही मुनियोंकी निन्दा कर मुनिधर्मके उठानेका प्रयत्न करेंगे। मुनियों में मिथ्या अवर्णवाद लगावेंगे।" मानो मुनिलोग बिलकुल निर्दोष होंगे; और यह सब कालका ही दोष होगा जो लोग यों ही उनकी निन्दा करने लगेंगे तथा उनमें दोष लगाने लगेंगे ! वाह ! कैसी अच्छी वकालत है !! इससे भी अधिक बढ़िया वकालत पृष्ठ ४१ की 'टीप' में की गई है और वह इस प्रकार है:—

"वीतराग सर्वथा निरपेक्ष परम पवित्र सर्व प्रकारके दोषसे रहित और सब प्रकारकी आशाको छोड़कर ज्ञानध्यानमें लीन रहनेवाले धर्मगुरु (मुनि-आचार्य-ऐल्लक-आर्यिका) को ये व्रत और चारित्रविहीन श्रावक निन्दा करेंगे। तथा निर्लज्जताके साथ निन्दा करते हैं। ये लोग स्वयं पापी, सदाचाररहित कुशिक्षासे विषयोंका पोषण करने वाले और क्रिया हीन पापिष्ठ होंगे, सच्चे धर्मात्मा और धर्मगुरुका चारित्र-विचार एवं मनकी भावना अत्यन्त पवित्र और उत्तम होगी उसको भी ये लोग सहन नहीं कर सकेंगे।" इत्यादि

इस प्रकारके अनुचित पक्षसे तो यह और भी स्पष्ट हो जाता है कि आप मुनियोंका सुधार और उनका उत्थान बिलकुल नहीं चाहते। यही वजह है कि आप क्षुल्लक महाराज जिस शांतिसागर संघके मुख्य गणधर बने हुए हैं उसकी दिनों दिन भद्द उड़ रही है, जगह जगह निन्दा होती है और यह प्रसिद्ध हो चली है कि जहाँ जहाँ यह संघ जाता है, वहां वहां कलह के बीज बोता है और अनेक प्रकारके झगड़े टंटे कराकर लोगोंकी शांति भंग करता है! (शायद टीपमें वर्णित गुणोंका ही यह सब प्रताप हो !!) परन्तु इससे आपको क्या ? आपका उल्लू तो बराबर सीधा हो रहा है ! मुनियोंके

सुधार पर फिर यह स्वार्थसिद्धि, निरंकुशता और गणधरी भी कैसे घन सकती है, जिसकी आपको विशेष चिन्ता जान पड़ती है ?

यहां पर मैं इतना और भी प्रकट कर देना चाहता हूँ कि अनुवादकजीने विजातीयविवाह जैसे युक्ति-शास्त्र-सम्मत कार्यको भी 'धर्मविरुद्ध' तथा 'धर्मकी पवित्रताको नष्ट करने वाला' बतलाकर अपने उन पूर्वजों तथा पूज्य पुरुषोंको भी, जिनमें तीर्थङ्कर तक शामिल हैं, अधार्मिक और धर्मकी पवित्रता को नष्ट करनेवाले ठहराया है, जिन्होंने अपने वर्ण अथवा जाति से भिन्न दूसरे वर्ण-जातियोंकी कन्याओं से विवाह किये थे तथा म्लेच्छ जातियों तक की कन्याएँ विवाही थीं और जिन सबकी कथाओं से जैनग्रंथ भरे पड़े हैं! और यह आपकी कितनी बड़ी धृष्टता है !! विजातीयविवाहकी चर्चा बहुत अर्से तक समाजके पत्रोंमें होती रही है और उसे कोई भी विद्वान् अशास्त्रसम्मत सिद्ध नहीं कर सका। अन्त में विरोधियोंको चुप ही होना पड़ा और उसके फल स्वरूप अनेक विजातीय विवाह डंके की चोट हो रहे हैं। ऐसी हालतमें भी अपने कदाग्रहको न छोडना और वही बेसुरा राग अलापते हुए उसके विरोधको चुपकेसे ग्रन्थोंमें रखकर और उसे जिनवाणी तथा भगवान महावीरकी आज्ञा कहकर चलाना कितनी भारी नीचता और धृष्टता है, इसे पाठक स्वयं समझ सकते हैं !!! एक दूसरे स्थान पर तो—छठे पृष्ठके फुटनोट में—आपने ऐसे विवाह करने वालोंको—और इसलिये अपने पूर्वजों तथा पूज्यपुरुषोंको भी—'अनार्य'(म्लेच्छ) बतलायाहै!! इस धृष्टताकाभी कोई ठिकानाहै!!!

(१०) पृष्ठ २२३ पर "वह राजकुमार राजा हो कर प्रजाका न्यायमार्गसे पालन करेगा" यह वाक्य दिया हुआ है। और इसके 'वह' शब्द पर अंक १ डाल कर नीचे एक फुटनोट लगाया गया है, जो इस प्रकार है:—

"इस प्रकरणमें विवाहविधि विदेहक्षेत्रमें भी आगमकी मर्यादासे बतलाई है। यह नहीं है कि कन्या स्वयं वरण करे या बालक अपने आपही अपनी इच्छानुसार जिस तिस (जाति कुजाति, योग्य अयोग्य, नीच ऊँच आदि सबको) को स्वीकार कर विवाह कर लेवे। ऐसा करना मर्यादाके बाहर है। विवाह धर्मका अङ्ग है, उसकी पूर्ति गुरुजन ही योग्य रीति से सम्पादन करते हैं। इसमें बालक बालिकाओं को स्वतन्त्रता नहीं है।"

यह नोट 'वह' शब्दसे अथवा उससे प्रारम्भ होनेवाले उक्त वाक्यसे कोई सम्बन्ध नहीं रखता, यह तो स्पष्ट है। परंतु इसे छोड़िये और इस नोट के विषय पर विचार कीजिये। इस में स्वयंवरविवाहका निषेध किया गया है और उसके लिये 'आगमकी मर्यादा' तथा इस प्रकरणमें वर्णित 'विदेहक्षेत्रकी विवाहविधि' की दुहाई दी गई है। परन्तु इस प्रकरणमें विदेह क्षेत्रमें होनेवाले विवाहोंको कोई खास विधियाँ निर्दिष्ट नहीं की गईं और न यही कहा गया कि वहाँ अमुक एक विधिसे ही सारे विवाह होते हैं, बल्कि भविष्य कथनके रूपमें कर्मदहनव्रत के फलको प्राप्त एक राजकुमारके विवाहका साधारणतौर पर उल्लेख करते हुए केवल इतना ही कहा गया है कि—'उस राजकुमारका पिता पुत्रको गुणोंसे उज्वल अथवा अपने ही समान गुणवाला और यौवनसम्पन्न देखकर प्रसन्न होगा। उस पुत्रके विवाहार्थ बड़े कुलोंकी ऐसी सुशीला राजपुत्रियोंकी याचना करेगा जो रूपमें अप्सराओंको मात करनेवाली होंगी। ऐसी सुन्दराकार और मनोहर स्वरवाली कन्याएँ उस नेत्रानन्दकारी और यौवनसम्पन्न पुत्रको, सज्जनोंको आनन्द देने वाले दानों तथा सुमङ्गलोंको मंगल प्राप्तिके लिये करते हुए, बाजे गाजेके साथ विवाही जायंगी।' यथाः—

"तत्पिता यौवनाढ्यं च दृष्ट्वा सूनु गुणोज्वलं ।
गुणेन स्वात्मतुल्यं वा मुदमाप्स्यति भूमिराट् ॥२२७॥
तदात्मजाविवाहार्थं याचयित्वा नृपांगजाः ।
महत्कुलोद्भवाः शुद्धाः रूपात्तार्जित-अप्सराः ॥२२८॥
ईदृशाः सुन्दराकाराः सुस्वना शं प्रदायते (?) ।
सूनवे यौवनाढ्याय नेत्रानन्दकराय वै ॥२२९॥
नेष्यन्ति वाद्यघोषौत्रान् दानोत्करसुमंगलान् ।
कुर्वन् वै मंगलाप्त्यर्थं सज्जनानन्ददायकान् ॥२३०॥

—पृष्ठ २२२

इन श्लोकोंमें न तो आगमकी किसी मर्यादाका उल्लेख है—आगम या शास्त्रका नाम तक भी नहीं—न विवाहकी कोई ख़ास विधि ही स्पष्ट है और न यही पाया जाता है कि विदेहोंमें स्वयंवर विधिका अथवा दूसरी किसी विवाहविधिका निषेध है। मालूम नहीं फिर अनुवादकजीने इन श्लोकोंके आधार पर कैसे उक्त नोट देनेका साहस किया है! इनसे भिन्न और कोई भी श्लोक विवाहविधिसे सम्बन्ध रखनेवाले इस प्रकरणमें नहीं हैं। जान पड़ता है इन श्लोकोंके अर्थमें जो जालसाज़ी की गई है उसीकी तरफ इस नोटका इशारा है अथवा उसीको लक्ष्यमें रखकर यह नोट लिखा गया है! अनुवादकजीका वह बेहद स्वेच्छाचारको लिये हुए छलपरिपूर्ण अर्थ इस प्रकार है:—

"अर्थ—उसका पिता बालकको यौवन अवस्था में देख कर अपनी जातिकी गुणवाली अपने समान ऋद्धिकी धारक राजाओंकी कन्याओंकी याचनाकर विधिपूर्वक विवाह (वाग्दान) स्वीकार करेगा। पश्चात् कुलाम्नाय और धर्मशास्त्र की विधि से विवाह करेगा। (इसके बाद कुल डेढ़ पंक्तिमें पाँच श्लोकों

का अर्थ दिया है और उनकी बहुतसी बातें शायद अप्रयोजनभूत समझकर छोड़ दी गई हैं !) ।"

इस अर्थमें "अपनी जातिकी गुणवाली अपने समान ऋद्धिकी धारक" और "विधिपूर्वक विवाह (वाग्दान) स्वीकार करेगा। पश्चात् कुलाम्नाय और धर्मशास्त्र की विधिसे विवाह करेगा" ये बाते मूलसे बाहरकी हैं—मूलके किसीभी शब्दका अर्थ नहीं हैं—अपनी तरफ़से जोड़ी गई है। इन्हें निकाल देने पर इस अर्थ में फिर क्या रह जाता है और क्या छूट जाता है, उसे पाठक स्वयं समझ सकते हैं !! खेद है कि अनुवादकजी इतनी धृष्टता धारण किये हुए हैं कि अपनी बातोंको भी ग्रंथकी बातें बतलाकर लोगोंको ठगना और उनकी आंखोंमें स्पष्ट धूल डालना चाहते है ! इस निर्लज्जता और बेहयाईका भी कुछ ठिकाना है !!! मालूम नहीं भट्टारकीय साहित्यके त्रिवर्णाचारादि आधुनिक भ्रष्ट ग्रंथोंको छोड़कर आप कौनसे आगम ग्रंथ की मर्यादाकी दुहाई दे रहे है, जिसमें राजाओं (क्षत्रियों) के लिये एक मात्र अपनी ही जातिकी कन्यासे विवाह करनेकी व्यवस्था की गई हो और स्वयंवर विधिसे विवाहका सर्वथा निषेध किया गया हो ? भगवज्जिनसेनाचार्यने तो आदिपुराणके १६ वें पर्वमें 'शूद्रा शूद्रेण वोढव्य' इत्यादि श्लोकके द्वारा अनुलोमक्रमसे विवाह की व्यवस्था की है—अर्थात् एक वर्ण (जाति) वाला अपने और अपनेसे नीचके वर्ण (जाति) की कन्यासे विवाह कर सकता है—और इसे युगकी आदिमें श्री आदिनाथ भगवान द्वारा प्रतिपादित बतलाया है । और ४४ वे पर्व में स्वयंवर विधिसे विवाह को 'सनातनमार्ग' लिखा है तथा संपूर्ण विवाहविधानोंमें सबसे अधिक श्रेष्ठ (वरिष्ठ) विधान प्रकट किया है; जैसा कि उसके निम्न श्लोकसे प्रकट है :—

सनातनोऽस्ति मार्गोऽयं श्रुतिस्मृतिषु भाषितः।
विवाहविधिभेदेषु वरिष्ठोहि स्वयंवरः ॥ ३२ ॥

साथही, ४५ वें पर्वमें राजा अकम्पनके स्वयंवर विधान का जो अभिनन्दन भरतचक्रवर्तीने किया था उसकाभी उल्लेख दिया है। भरतचक्रवर्तीने भोगभूमिकी प्रवृत्ति द्वारा लुप्त हुए ऐसे सनातन मार्गों के पुनरुद्धारकर्ताओंको सत्पुरुषों द्वारा पूज्यभी ठहराया था; जैसा कि निम्न वाक्योंसे प्रकट हैः—

"तथा स्वयंवरस्येमे नाभूवन्यद्यकम्पनाः।
कः प्रवर्तयितान्योऽस्य मार्गस्यैष सनातनः ॥ ४५ ॥
"मार्गाश्चिरंतनान्येऽत्र भोगभूमितिरोहितान्।
कुर्वन्ति नूतनान्सन्तः सद्भिः पूज्यास्त एव हि ॥ ५५ ॥

इसके सिवाय, उक्त आदिपुराणके १६ वें पर्व में यह भी बतलाया गया है कि विदेहक्षेत्रोंमें वर्णाश्रमादिककी जैसी कुछ व्यवस्था थी उसीको युगकी आदिमें भगवान आदिनाथने इस भरत क्षेत्र में प्रवर्तित करना उचित समझा था और तदनुसार ही वह सब व्यवस्था प्रवर्तित की गई थी *। ऐसी हालतमें स्वयंवर विधि जो युगकी आदिमें यहाँ प्रवर्तित की गई वह विदेहक्षेत्रोंकी व्यवस्था के अनुसार ही की गई है और इसलिये विदेहोंमें स्वयंवरविधि से विवाहोंका होना स्पष्ट है।

---

* पूर्वापर विदेहेषु या स्थितिः समुपस्थिता।
साऽद्य प्रवर्तनीयाऽत्र ततो जीवन्त्ययम् प्रजाः ॥१४३॥
षट् कर्माणि यथा तत्र यथा वर्णाश्रमस्थितिः।
यथा ग्रामगृहादीनां संस्त्याश्च पृथग्विधाः ॥१४४॥
तथाऽत्राप्युचिता वृत्तिरुपायैरेभिरङ्गिनाम्।
नोपायान्तरमस्त्येषां प्राणिनां जीविकां प्रति ॥१४५॥

आदि पुराणसे पहिले शक संवत् ७०५ में बने हुए श्री जिनसेनाचार्यके हरिवंशपुराणमें भी स्वयंवरविवाहका तथा अन्य जातियोंकी कन्याओंसे अनुलोम प्रतिलोम रूपसे विवाहों का बहुत कुछ उल्लेख है † । और उसमें रोहिणीके स्वयंवरके प्रसंग पर निम्नवाक्य द्वारा स्वयंवरकी नीतिका भी स्पष्ट उल्लेख किया गया है—अर्थात् बतलाया है कि 'स्वयंवरको प्राप्त हुई कन्या उस वरको वरण करती—स्वीकार करती—है जो उसे पसन्द होता है, चाहे वह वर कुलीन हो या अकुलीन; क्योंकि स्वयंवरमें वरके कुलीन या अकुलीन होनेका कोई नियम नहीं होता'—

स्वयंवरगता कन्या वृणीते रुचितं वरं ।
कुलीनमकुलीन वा न क्रमोऽस्ति स्वयंवरे ॥ ३१--५३ ॥

उक्त हरिवंशपुराणसे भी कोई एक शताब्दी पहलेके बने हुए रविषेणाचार्यके पद्मचरित (पद्मपुराण) में भी सीताके स्वयंवरका वर्णन है। इन सब ग्रन्थोंसे अधिक प्राचीन और अधिक मान्य ऐसा कोई भी जैन ग्रन्थ नहीं है जिसमें स्वयंव- रादिका निषेध किया गया हो।

अतः अनुवादकजीका उक्त नोट बिलकुल निःसार छल से परिपूर्ण, दुःसाहसको लिये हुए और उनकी एकमात्र दूषित चित्तवृत्तिका द्योतक है। इसी तरहके अनेक निःसार नोट ग्रंथ में भिन्न भिन्न स्थानोंपर लगाये गये हैं, जिन सबका परिचय

---

† इस ग्रंथ तथा अन्य ग्रन्थों सम्बन्धी विवाहविधियोंका विशेष परिचय पानेके लिये लेखककी 'विवाहक्षेत्रप्रकाश' नामकी पुस्तकको देखना चाहिये। यह पुस्तक ला० जौहरीमलजी जैन सर्राफ़, दरीबाकलां, देहलीके पाससे मिलती है ।

और आलोचन अधिक विस्तारकी अपेक्षा रखता है और इस- लिये उन्हें छोड़ा गया है।

लेख बहुत बढ़ गया है और इसलिये अब मैं आगे कुछ थोड़ीसी बातोंकी प्रायः सूचनाएँ ही और करदेना चाहता हूँ, जिससे पाठकोंको इस ग्रन्थके अनुवाद विषयका और अनु- वादककी चित्तवृत्ति एवं योग्यताका यथेष्ट व्यापक ज्ञान होजाय।

(११) पृष्ठ ३७ पर श्लोक नं० १३५ के 'चूर्णोदकाज्यं' पदके अर्थमें 'आटा, पानी और घी' के बाद 'आदि' शब्द बढ़ाया है और उसके द्वारा मूलकी अर्थमर्यादाको बढ़ाते हुए शूद्रोंके प्रति होनेवाले अन्यायकी सीमावृद्धि की है! इसीतरह पृष्ठ२१४ पर श्लोक नं० १६० के 'शूद्रस्पृश्यं जलं चूर्णं घृतं' पदोंके अर्थ में 'शूद्रके हाथका जल घृत और आटा' के बाद 'आदि' शब्द बढ़ाकर वही अनर्थ घटित किया है * !!

(१२) पृष्ठ ७२ पर श्लोक नं० ३०१ के अर्थमें 'तपः' पद का अर्थ छोड़ दिया है और उसकी जगह "गुरु सेवा करना" तथा "जैनधर्मके अन्तरंग शत्रुओंका नाश करना" ये दो बातें पुण्य-कार्योंमें बढ़ाई गई हैं, जिनमेंसे पिछली बात का संकेत सुधारकोंके नाशकी ओर जान पड़ता है और उससे अनुवादक की एक खास मनोवृत्तिका पता चलता है !!

(१३) पृष्ठ ७८ पर श्लोक नं० ३३८ के अर्थमें 'श्रीमज्जिन- नेन्द्रके बिम्बोंकी प्रतिष्ठा' से पहले "अपरिमित धनादिकके व्यय के द्वारा" और बादको "महान् उत्सव कराने लगे" तथा "रथो- त्सव आदि विविध प्रकारके उत्सव करने लगे" ये तीन बातें बढ़ाई गई हैं !

(१४) पृष्ठ ८५ पर, कुन्दकुन्दके गिरनार यात्रासंघकी

---

* ये दोनों श्लोक पहले 'शूद्रजलादिके त्यागका अजीब विधान' इस उपशीर्षकके नीचे उद्धृत किये जाचुके हैं।

गणना देते हुए, श्लोक नं० ३६१ का अर्थ न देकर उसकी जगह निम्न वाक्य यों ही कल्पित करके दिया गया है:—"उन सबके साथ अपने २ नौकर चाकर सिपाई पयादे तथा सब प्रकारके साधन गाड़ी घोड़े आदि थे।"

(१५) पृष्ठ ११२, ११३ पर, श्लोक नं० ५०१ से ५०६ का अर्थ मूलके अनुकूल न होकर बहुत कुछ स्वेच्छाचारको लिये हुए है। इसमें मूलके नाम पर बहुतसी बातें अपनी तरफ़से बढ़ाई गई है, जैसे—"पूजनके पाँच अंगोंमें तीन अङ्ग तो अभिषेकके प्रारम्भमें ही करने पड़ते हैं", "सबसे पीछे कलशाभिषेक करना चाहिये", "गंधलेपन पुष्पवृष्टि आदि", "यदि इस क्रमसे पूजाकी जाय तो सर्वसंपत्ति प्राप्त होती है" इत्यादि!

(१६) पृष्ठ १४० पर श्लोक नं० ६४७ के अर्थमें 'अभिषेकादि' से पहले "तीर्थङ्कर द्वारा प्रतिपादित" और बादको "पवित्र आगमोक्त" ये 'क्रिया' के विशेषण बढ़ाये गये हैं!

(१७) पृष्ठ १६८ पर श्लोक नं० ९१ के अर्थमें निम्न दो बाते मूलके नाम पर ख़ास तौरसे बढ़ाई गई हैं:—

क—"भगवानकी मूर्तिकी परोक्षपूजा प्रत्यक्षपूजासे भिन्न होती है। इसलिये परोक्षपूजा उस मूर्तिकी" (आगे पंचामृतके नामादिक देकर उनसे वह की जाती है ऐसा उल्लेख है।)

ख—"यह सनातनविधि श्रीजिनेन्द्रदेवने प्रतिपादन की है और इन्द्रादिकदेव इसी विधिसे नन्दीश्वरादि द्वीपमें अकृत्रिम जिनबिम्बोंका अभिषेक करते हैं।"

(१८) पृष्ठ १७२ पर श्लोक नं० ११५ के अर्थमें निम्न बातें अपनी तरफ़से मिलाई गई हैं:—

"वे मुनीश्वर कुमार्ग पर चलनेवालोंको सुमार्ग पर लाते थे। जिनराजकी आज्ञा भंग करनेवालोंको सन्मार्ग पर लाते थे।

और मनमानी करनेवालोंको योग्य व्यवस्था कर सन्मार्ग पर लाते थे। संघमे बिना दण्डके कभी व्यवस्था नहीं होती है। राजदण्डसे जैसे अन्याय रुक जाता है इसी प्रकार पंचायती दण्डसे धर्मविरुद्ध चलनेवालोंकी अनीति मिट जाती है।"

(१९) पृष्ठ १७५ पर श्लोक नं० १२४ के अर्थमें निम्न-वाक्य मूलके शब्दोंसे कोई सम्बन्ध नहीं रखते—ऊपरसे मिलाये गये हैं :—

"परन्तु मूर्तिपूजा परमागममें सर्वत्र बतलाई है। बिना मूर्तिपूजाके आत्मस्वरूपकी प्राप्ति नहीं होती है। इसलिये केवल आत्माके श्रद्धानको मानकर देव, शास्त्र, गुरुका श्रद्धान नहीं करना सो मिथ्यात्व है।"

(२०) पृष्ठ १७७ पर श्लोक नं० १३० के अर्थ में "गुरु बिना ज्ञान नहीं होता है, यह कहावत भी सर्वत्र प्रसिद्ध है" ये शब्द बढ़ाये गये हैं—मूलमें ऐसा कोई उल्लेख नहीं।

(२१) पृष्ठ १८४, १८५ पर 'भो ढुंढ्याः नामस्थापना-द्रव्यभावतश्चतुर्धा जिनेन्द्रस्य स्मरणं च पूजनं स्यात्' इस वाक्य के अर्थमें निम्न बातें बढ़ाई गई हैं :—

"प्रत्येक वस्तुमें चारों निक्षेप नियमसे होते हैं परन्तु आप लोगोंने तीन निक्षेप (नाम-द्रव्य-भाव) तो स्वीकार किये हैं और बीचमें स्थापना निक्षेपको छोड़ दिया, सो क्यों ?" (इत्यादि पूरी छः पंक्तियों की बातें 'अज्ञान है' तक)।

(२२) पृष्ठ २०४ पर श्लोक नं० ९५ के अर्थमें यह बात बढ़ाई गई है—

"अन्यथा एक मुख पर पाटी बांधकर विशेष म्लेच्छा-चार क्यों फैलाते हो और जैनधर्मको घृणापूर्ण बनाकर निन्दा के पात्र होते हो।"

(२३) पृष्ठ २११ पर श्लोक नं० १४२ के अर्थमें यह बात अपनी तरफ़ से मिलाई गई है, मूल में नहीं है—

"अपने घरसे उत्तमोत्तम भगवान्‌के पूजनको सामग्री तथा अभिषेकको सामग्री (इक्षुरस-दूध-दही-घृत-सर्वौषधि-शर्करा-फल-फूल-केशर-कपूर-दीपक आदि) ले जावे।"

(२४) पृष्ठ २६७ पर सम्मेदशिखर के आनन्दकूटसे मुक्ति जानेवालोंकी संख्या और उस कूटको वन्दनाका फल बतलाने के अनन्तर जो बात मूलके नाम पर श्लोकोंके अर्थमें अपनी तरफ़से बढ़ाई गई है वह इस प्रकार है:—

"सनत्कुमार चक्रवर्तीने चतुर्विध संघसहित यात्रा की। यह संघ सबसे भारी निकाला गया था। लाखोंकी संख्यामें यात्री थे। सबकी चर्या संघमें होती थी।"

इसी तरह आगे अविचलकूट आदिके वर्णनमें भी चतुर्विधसंघसहित वन्दना करनेवाले राजाओं के नामादिकका उल्लेख मूलवाक्योंके अर्थोंमें बढ़ाया गया है, संघमें हज़ारों मुनियोंके होनेका भी कहीं कहीं उल्लेख किया गया है और किसी किसी कूटका माहात्म्यविशेष भी अपनी तरफ़से जोड़ा गया है; जैसे प्रभासकूटके वर्णनमें (पृष्ठ २६८ पर) लिखा है— "इस कूटको रज लगानेसे कुष्ठ रोग दूर होता है। विशेष एक बात यह भी है कि बीस कूटोंकी यात्राके समान इसका फल है।" इस तरहकी बहुतसी बाते इस सम्मेदशिखर प्रकरणमें चुपकेसे अर्थमें शामिल को गई हैं और इस तरह उन्हें मूलकी प्रकट किया गया है।

(२५) पृष्ठ ३१८ पर तीव्रमोही होनेके कारणों में हींग, सज्जी, नमक, तेल आदि कई चीज़ोंके खरीदने बेचने (व्यापार) को बातको छोड़ दिया है। और "मशीनोंके द्वारा महान् हिंसक होनेवाले व्यापार" आदिकी बातोंको बढ़ाया गया

है जो मूलमें नहीं है। इसी तरहकी इस फलवर्णनके प्रकरण मे आगे पोछे बहुतसी बातें अर्थ करते समय छोड़ दी गई और बहुतसी बढ़ाई गई है। जैसे विधवा होने के कारणोंमें "पुनर्विवाह" और "वैधव्यदोषनाश" आदिकी बातें बढ़ाई गई हैं और कितना ही वर्णन मूलसे बाहर दिया है। (पृष्ठ २७४—२७६)

(२६) पृष्ठ ३८० पर श्लोक नं० १९० के अर्थ में ये बाते बढ़ाई गई हैं:—

"वर्तमानमें वर्णव्यवस्थालोप, विधवाविवाह स्पर्शास्पर्शलोप समानहक्क आदि समस्त धर्मविरुद्ध नीतिविरुद्ध मर्यादाविरुद्ध बातोंको धर्मनीति और कर्तव्य बतलाया जा रहा है। यह सब राजा और राजाकी ऐसी ही कुशिक्षाका फल है। यह बात सच है कि यथा राजा तथा प्रजा।"

(२७) पृ० ३८४ पर श्लोक नं० २११ के अर्थमें यह बात बढ़ाई गई है, जो उक्त श्लोकमें नहीं है:—

"अगणित दीपकोंसे दीपावली (दिवाली) को प्रकट किया। उसी दिवस से यह उत्सव दीपावली के नाम से दिवाली आजतक प्रचलित है।"

(२८) पृ० ३८८ पर श्लोक नं० २३३ के अर्थमें राजा श्रेणिक द्वारा पावापुरमें स्थापित वीर-जिनालयकी प्रतिष्ठाके साथ में "अतिशय धूमधामसे" ये शब्द जोड़े गये हैं और साथ ही यह बात बिलकुल अपनी तरफ़से कल्पित करके जोड़ी गई है कि राजाश्रेणिकने—

"उस जिनालयमें श्री वीरप्रभुके स्मरणार्थ वीरप्रभुकी चरणपादुका स्थापित की।"

(२९) पृ० ८० पर कुन्दकुन्दकी ग्रन्थरचना का उल्लेख करते हुए जो श्लोक नं० ३५२ दिया है उसका अनुवादकजी द्वारा निर्मित अर्थ अर्थकी वृद्धि, हानि तथा विपरीतता तीनोंको

लिये हुए है। उसमें जहां कुछ 'चेलकांत' आदि पदोंका अर्थ छोड़ा है वहां "मुनिधर्मके प्रकाश करनेवाले ग्रंथ भी बनाये" यह अर्थ अपनी तरफ़से जोड़ा है और 'सकलान् ग्रन्थान् करिष्यति' (संपूर्ण ग्रन्थोंको बनाएगा) का विपरीत अर्थ "बहुतसे ग्रन्थ बनाये" दिया है। इसी तरह 'प्रभावार्थं जिनधर्मस्य' इन शब्दों का अर्थ जो 'जिनधर्मकी प्रभावना के लिये' होता है उसकी जगह यह अर्थ दिया है—

"जिससे जिनेन्द्रके धर्मकी अपूर्व महिमा प्रकट हुई। जैनधर्मकी प्रभावना हुई, तथा विद्वानोंमें जैनधर्मका चमत्कार हुआ और जगत्में जैनधर्मकी मान्यता बढ़ी।"

(३०) जिस प्रकार उक्त पृष्ठ ८० पर भविष्यकालकी क्रिया 'करिष्यति' का अर्थ भूतकालमें दिया है उसी प्रकार पृष्ठ २४० पर भी 'भोक्ष्यति' (भोगेगा) क्रियापद का अर्थ "भोगने लगा" देदिया है, जो प्रकरणको देखते हुए बहुतही बेढंगा जान पड़ता है! साथमें 'समापन्नवान्' पद जो यहा 'सः' का विशेषण था उसे क्रियापद समझकर उसका अर्थ "प्राप्त किया" देदिया है! और पृष्ठ १४२ पर 'भवन्ति' का अर्थ 'होते हैं' की जगह "होंगे" दिया गया हे! इसी तरह अन्यत्र भी अनेक क्रिया पदोंके अर्थ विपरीत किये गये है!!!

(३१) पृष्ठ १३५ पर एक श्लोक निम्न प्रकारसे दिया है :—

ह्यतो मुनीपदस्यैव धारकाः पुरुषाः कलौ।
तुच्छा जानीहि त्वं भूप यथा भूपास्तथा प्रजा॥

इसमें बतलाया गया है कि 'पूर्वोल्लेखित कारणोंसे— अर्थात् प्रतिदिन मुनिमार्ग की हानिता, शरीरकी हीनता, हीन संहनन और ब्राह्मणों तथा राजाओंका जैनधर्म से पराङ्मुख

होना आदि कारणों से—कलियुगमें मुनिपद के धारक तुच्छ पुरुषही होंगे, जैसे 'राजा वैसी प्रजा'। यहां जिन राजाओं के साथ तुलना करते हुए उन्हे तुच्छ कहा है ग्रंथके शुरू में (पृ० २६, २७) उन राजाओंको *'नीचा हि राज्यभोक्तारः'* *'न्याय-हीनाश्च भूमिपाः'* जैसे शब्दोंके द्वारा नीचादि प्रकट किया है, और साधुओंको भी *'साधुगुणविहीनांगाः'*आदि लिखा है, जिस का अर्थ खुद अनुवादकजी ने यह किया है कि—"पंचमकाल में ऐसे साधु और भेषधारी ब्रह्मचारी होंगे जिनमें अपने पद के योग्य गुणोंका अभाव होगा"। ऐसी हालतमें प्रसंगानुसार यहां 'तुच्छ' का अर्थ हीन या निकृष्ट होना चाहिये था; परन्तु उसे न देकर स्वल्पसंख्यक अर्थ किया गया है—लिखा है कि "मुनिपदके धारक वीर पुरुषोंकी संख्या स्वल्प होगी"। शायद अनुवादकजीको यह भय हुआ हो कि इस विशेषणपद परसे उनके वर्तमान गुरु कहीं तुच्छ (हीन अथवा निकृष्ट) न समझ लिये जायं !—भलेही वे साधुगुणविहीनांग हों !!

(३२) पृ० ११९ पर श्लोक नं० ५३८, ५३९ 'युग्म' रूपसे है—दोनोंको मिलाकर एक पूरा वाक्य बनता है—और उनका सार (विशेषणोंको छोड़कर) सिर्फ इतना ही है कि 'वह ब्राह्मणी उसी सेठपुत्रीके वचनानुसार सहर्ष एक घड़ा पानीका लेकर (आधाय) और उसे अभिषेकके लिये (अभिषेकाय) जिनमंदिरमें धरकर (धृत्वा) अपने घर चली आई (स्वस्थानं चागात्)'। परन्तु अनुवादकजीने यह सब कुछ न समझकर दोनोंका बड़ा ही विलक्षण अर्थ अलग अलग कर डाला है ! एकमें यह सूचित किया है कि 'वह ब्राह्मणी पानीका एक घड़ा नदीमें से भरकर और जिनमंदिर जाकर उसे श्री वीतराग अरहंत प्रभु पर चढ़ा आई और फिर अपने घर पर गई।' और

दूसरेमें यह बतलाया है कि 'उस ब्राह्मणीने श्रीजिनमंदिरमें श्रीजिनदेवका अभिषेक किया और वह अतिशय हर्षको प्राप्त हुई।' यहां 'अभिषेकाय धृत्वा' का अर्थ "अभिषेक किया" दिया है, जो बड़ा ही विचित्र जान पड़ता है! इसी तरह अन्यत्र भी युग्म श्लोकोंको न समझकर उनके अर्थमें गड़बड़ की गई है !!

(३३) पृष्ठ १६२ पर श्लोक नं० ५'१ में प्रयुक्त हुए 'भवतां यदि श्रद्धा स्यात् ग्रंथाना' इन शब्दोंका स्पष्ट अर्थ है—'यदि तुम्हारे ग्रंथोंकी श्रद्धा हो'। परन्तु अनुवादकजी ने "जिससे जिनागममें श्रद्धा हो" यह विलक्षण अर्थ किया है। 'यदि' का अर्थ "जिससे" बतलाना यहअनुवादकीय दिमागकी ख़ास उपज जान पड़ती है !!

(३४) पृष्ठ २६४ पर संख्यावाचक पद 'चन्द्रपक्षप्रमः' का अर्थ '१२' किया गया है, जब कि वह 'अंकाना वामोगतिः' के नियमानुसार '२१' होना चाहिये था। पृष्ठ २८३ पर 'हिमांशु-नेत्र' का अर्थ भी '२१' की जगह '१२' ग़लत किया गया है, जब कि इसी पृष्ठ पर 'रंध्रवेदभवं' का अर्थ उक्तनियमानुसार "४९ भव" दिया है! और इससे अनुवादक का ख़ासा स्वेच्छा-चार पाया जाता है! और पृ० २६७ पर 'नेत्राद्रिप्रमलक्षाः' पदका अर्थ '६२ लाख' दिया है, जब कि वह '७२ लाख' होना चाहिये था क्योंकि 'अद्रि' शब्द सातकी संख्याका वाचक है! इसी तरह अन्यत्र भी कितने ही संख्यावाचक शब्दों तथा पदों का अर्थ इसमें विपरीत किया गया है !!!

ये सब (प्रायः नं० २९ से लेकर यहाँ तक) अनुवादक-जीके उस संस्कृत-ज्ञानके खास नमूने हैं जिसके आधार पर वे सुधारकों तथा ग्रंथोंकी समालोचना करने वाले विद्वानोंको यह कहने बैठे हैं कि "उनको संस्कृत प्राकृतका ज्ञान नहीं है!"

परन्तु एक बढ़िया नमूना तो अभी बाक़ी ही रह गया है, और वह आगे दिया जाता है।

(३५) श्रेणिककी प्रश्नावलीकी उत्तरसमाप्तिके बाद ग्रंथमें पृष्ठ ३७८ पर दो पद्य निम्न प्रकारसे दिये हैं:—

भूत भांतमभूतमेव ह्यखिलं संसारतापापहं।
वीरो वीरगुणाकरो मुनिनुतो वृत्तांतमेवांजसा॥
आयुः कायसुसारवैभवयुतान् पुण्योदयात् सत्सुखान्।
मर्त्यानां च पृथक् पृथक् जिनपतिः त्रिषष्टिकानां शुभम्॥१७६॥
पौराणांश्च तथा हि अन्यमनुजानां च चरित्रं महत्।
तत्त्वातत्त्वविभेदकं च स्मरतो मोक्षस्वरूपं तथा॥
कृत्वेत्थं च जिनेश्वरो ह्यवहरो व्याख्यानकं चोत्तमं।
मोक्षं ह्याप दयार्द्रधीः जितरिपुः सर्वाधिपैर्वंदितः॥१७७॥

ये दोनों पद्य 'युग्म' रूपसे हैं—दोनोंका मिल कर एक वाक्य बनता है, जिसकी क्रिया 'आप' दूसरे पद्यके अन्तिम चरणमें पड़ी हुई है। इनमें बतलाया है कि—

'इस प्रकार वीरगुणोंके आकर मुनियोंसे स्तुत पापका नाशकरने वाले दयार्द्रबुद्धि जितरिपु और सर्व अधिपतियोंसे वंदित ऐसे जिनपति श्रीमहावीर जिनेश्वरने, संसार तापको दूरकरने वाले भूत भविष्यत-वर्तमान सम्बन्धी संपूर्ण शुभ वृत्तांतका, मनुष्योंके आयु काय तथा सार वैभवसहित पुण्योदयसे होने वाले सत्सुखोंका, त्रेसठ शलाका पुरुषोंके पृथक् पृथक् पौराणोंका तथा दूसरे मनुष्योंके महत् चरित्रका, तत्त्वातत्वके विभेदका और मोक्षके स्वरूपका चिन्तन करते हुए (अर्थात् इन सबको लिये हुए) उत्तम उपदेश देकर मोक्षको प्राप्त किया।'

इस आशय परसे ऐसा मालूम होता है कि ग्रन्थकारने इन पद्यों को संभवतः त्रिषष्टि शलाका पुरुषोंके चरित्र वाले किसी महापुराण परसे उद्धृत किया है, जहां ये उपसंहार वाक्यके रूपमें दिये गये होंगे और अपनी मूर्खतावश इन्हे यहाँ रक्खा है; क्योंकि एकतो इनका विषय प्रकृत ग्रन्थके साथमें यथेष्ट रूपसे संगत नहीं बैठता, दूसरे यहां भगवान् महावीरको मोक्षमें भेजकर कुछ कथनके बाद फिर पृष्ठ ३८२ पर *'अथ श्रीमज्जिनाधीशो महावीरः सुरार्चितः। विहारं कृतवान्'* इत्यादि वाक्योंके द्वारा उनके विहारादिका जो कथन किया गया है वह नहीं बन सकता। और इसलिये इन वाक्योंका यहां दिया जाना ग्रन्थकारकी स्पष्ट मूर्खताका द्योतक है। परन्तु इसे छोड़िये और अनुवादकजीकी मूर्खताको लीजिये। उन्होंने इन पद्योंको 'युग्म' रूप ही नहीं समझा, न इनका ठीक आशय ही वे समझ सके हैं और इसलिये इनका जो अलग अलग विलक्षण अर्थ दिया गया है वह उनकी बड़ी ही स्वेच्छाचारता, निरंकुशता एवं संस्कृतानभिज्ञताको लिये हुए है। और वह क्रमश इस प्रकार है:—

"अर्थ—हे मगधेश्वर जो कुछ संसार में जितना वृत्तान्त होगया है, आगे होगा और वर्त्तमान कालमें होरहा है वह सब वीरप्रभु अपने दिव्य ज्ञानसे परिपूर्ण यथार्थरूपसे जानते हैं। इसीलिये वीरप्रभु सर्वज्ञ वीतराग और त्रिलोकवंदित हैं। मुनिगणोंसे पूज्य है। जो मनुष्य वीरप्रभुके वचनोंका श्रद्धान कर उनको ही अपना ध्येय समझता है, अपना कर्तव्य मानता है वही आयुः काय भोगसंपदा आदि उत्तमोत्तम सामग्रीको प्राप्तकर महान् पुण्यका संपादन करता है। वह पुण्य त्रिषष्ठि-पुरुषोंके चरित्रादिको श्रवणकरनेसे संपादित होता है।"

"अर्थ—श्रीवीरप्रभुने त्रिषष्ठीशलाका पुरुषोंका पुण्यो-

त्पादक जीवनचरित्र, तत्त्वातत्त्वका विवेचन, मोक्षका स्वरूप आदि समस्तपदार्थोंका व्याख्यान समोशरण में दिया । वे दयालु भगवान् सदैव जयवन्त रहो ।"

जिन पाठकोंको संस्कृतका कुछ भी बोध है वे मूलके साथ तथा ऊपर दिये हुए उसके आशयके साथ तुलना करके सहज ही में मालूम कर सकते हैं कि यह अनुवाद कितना बे-सिर पैरका, कितना विपरीत और मूलके साथ कितना असम्बद्ध है तथा अनुवादकके कितने असत्य प्रलापको सूचित करता है। इसमें "हे मगधेश्वर" यह सम्बोधनपद तो मूलसे बाह्य होनेके अतिरिक्त अनुवादककी महामूर्खता प्रकट करता है; क्योंकि ये दोनों पद्य ग्रन्थकारके उपसंहार वाक्योंके रूपमें हैं—महावीरकी तरफ़से श्रेणिकके प्रति कहे हुए नहीं हैं—और ग्रन्थकारके सामने मगधेश्वर (राजा श्रेणिक) उसके सम्बोधनके लिये नहीं था। मालूम नहीं "सदैव जयवन्त रहो" यह आशीर्वाद और "जो मनुष्य वीर प्रभुके वचनोंका श्रद्धान कर" इत्यादि वाक्य कौनसे शब्दोंके अर्थ हैं ! और 'मोक्षं हाप' जैसे पदोंके अर्थको अनुवादकजी बिलकुल ही क्यों उड़ा गये हैं !! ये शब्द ऐसे नहीं थे जिनका अर्थ उनकी समझके बाहर हो—उन्होंने खुद पृष्ठ ३८३ पर 'मोक्षमाप' का अर्थ "निर्वाण पदको प्राप्त हुए" दिया है। फिर यहाँ वह अर्थ न देना क्या अर्थ रखता है ? जान पड़ता है ग्रन्थमें आगे भग-वान्के विहार आदिका कथन देखकर ही यहाँ उनके निर्वाणका कथन करना उन्हें संगत मालूम नहीं दिया और इसीलिये उन्होंने उक्त पदोंका अर्थ छोड़ दिया है ! यह उनकी स्पष्ट मायाचारी तथा चालाकी है !! और अनुवादकके कर्तव्यसे उनका भारी पतन है !!!

उपसंहार

इस प्रकार कुछ नमूनोंके साथ यह अनुवादका संक्षिप्त परिचय है। और इस पर से अनुवादकी असत्यता, निःसारता, अर्थको अनर्थता और अनुवादककी निरंकुशता, चालाकी, मायाचारो, कपटकला, धृष्टता, धोखादेही और वह दूषित मनोवृत्ति आदि सब कुछ स्पष्ट हैं। वास्तवमें यह अनुवाद मूलसे भी अधिक दूषित है और एक सत्यमतादिके धारी तथा सप्तमप्रतिमाके आचारके साथ बद्धप्रतिज्ञ हुए ब्रह्मचारीके नाम पर भारी कलङ्क है। इतना अधिक झूठा, बनावटी और स्वेच्छाचारमय अनुवाद मैंने आज तक कोई दूसरा नहीं देखा। शायद ही किसी दूसरेने इतना झूठा और छल-कपट-पूर्ण अनुवाद किया हो। इस अनुवाद पर से अनुवादककी जिस कपटप्रबन्धमय असत् प्रवृत्तिका पता चलता है उसके आधार पर ऐसा अनुमान होता है कि अनुवादक ब्रह्मचारी ज्ञानचन्द्र उर्फ़ पं० नन्दनलालजीने सत्यव्रतादिककी जो चपरास अपने गलेमें डाल रक्खी है उसमें प्रायः कुछ भी तत्त्व नहीं है—वह अधिकांशमें दूसरों पर अपना प्रभाव जमाने अथवा अपनी स्वार्थसाधनाके लिये नुमाइशी जान पड़ती है। उसे इस अनुवादकी रोशनीमें सत्यघोषकी उस कैंचीसे कुछ भी अधिक महत्त्व नहीं दिया जा सकता—न उससे अधिक उसका कोई मूल्य आँका जा सकता है—जिसे सत्यघोषने इस विज्ञापनाके साथ अपने गलेमें लटकाया था कि 'यदि भूलकर भी मेरे मुखसे झूठ निकल जायगा तो मैं इस कैंचीसे उसी क्षण अपनी जीभ काट डालूँगा' परन्तु बादको एक घटना पर से ज़ाहिर हुआ कि वह प्रायः झूठ और मायाचारका पुतला था। उसी तरह इस अनुवाद पर से अनुवादक जी भी प्रायः झूठ

और मायाचारके अवतार जान पड़ते हैं। मुझे तो उनके इस पतनको देखकर भारी अफ़सोस होता है !!

अपनी ऐसी जघन्य स्थिति और परिणतिके होते हुए भी अनुवादकजी धर्मात्मा और विद्वान् दोनों बनते हैं, विद्वत्ताकी डींगे हाँकते हैं और दूसरोंको यों ही मूर्ख अधार्मिक आगम-विरोधी धर्मकर्मलोपक तथा संस्कृतप्राकृतके ज्ञानसे शून्य बतलाते हैं। यह सब उनकी निर्लज्जता और बेहयाई का ही एकमात्र चिन्ह है। यदि यह निर्लज्जताका गुण उनमें न होता तो वे कदापि ऐसा झूठा जाली अनुवाद प्रस्तुत करने का साहस न करते, न व्यर्थ की डींगें हाँकने और न मिथ्या प्रलाप करते। उनकी इस प्रवृत्ति और अनुवादकी विडम्बना को देखकर मुझे श्रीसिद्धसेनाचार्यकी निम्न उक्ति याद आती है, जो ऐसे ही निर्लज्ज पण्डितोंको लक्ष्य करके कही गई है :—

दैवखातं च वदनं आत्मायत्तं च वाङ्मयम् ।
श्रोतारः सन्ति चोक्तस्य निर्लज्जः को न पंडितः ॥

अर्थात्—'मुख तो दैवने खोद दिया है (बना ही रक्खा है), वचन अपने आधीन हैं (इच्छानुसार उसका प्रयोग करना आता है) और जो कुछ कहा जाता है उसको सुनने-वाले भी मिल ही जाते हैं, ऐसी स्थितिमें कौन निर्लज्ज है जो पण्डित न बन सके ?' भावार्थ—सभी निर्लज्ज, जिन्हें कुछ बोलना अथवा लिखना आता है पण्डित बन सकते हैं; क्योंकि लज्जा ही अयोग्योंके पण्डित बननेमें बाधक होती है। प्रत्युत इसके योग्योंके पाण्डित्यमें वह सहायक बनती है। उसके कारण उन्हें सदैव यह ख़याल बना रहता है कि कहीं कोई बिना सोचे-समझे ऐसी कच्ची बात मुँहसे न निकल जाय जिसके

कारण विद्वानोंके सामने लज्जित होना पड़े। और इसलिये वे अपनी बातको बहुत कुछ जांच तोल कर कहते हैं।

मूल ग्रन्थकार पं० नेमिचन्द्रके ऊपर भी यह उक्ति खूब फबती है। उसकी धूर्त लीलाओं तथा योग्यताओंका पाठक भले प्रकार अनुभव कर चुके है और यह जान चुके हैं कि यह ग्रन्थ कितना अधिक जाली, झूठा, निःसार, प्रपंची, असम्बद्धप्रलापी तथा विरुद्ध कथनोंसे परिपूर्ण है और इसमें भ० महावीरकी कैसी मिट्टी ख़राब की गई है। इतने पर भी स्वयं ग्रन्थकार इसकी बड़ी प्रशंसा करता है—इसे जिनवरमुखजात, सकलमुनिपसेव्य, पापप्रणाशक, धर्मजनक, शिवप्रद, बुधनुत, सद्बुद्धिदाता, प्रवरगुणदाता, पावन, सकलमनःप्रिय और सिद्धान्त समुद्रका सार आदि और न मालूम क्या क्या बतलाता है, इसीके पढ़ने स्वाध्याय करने आदिकी प्रेरणा करता है और अपनेको 'विद्वद्वर' लिखता है * !! इससे पाठक समझ सकते हैं कि ग्रन्थकारका यह कितना निर्लज्ज पाण्डित्य अथवा धृष्टतामय प्रलाप है !!!

मैं समझता हूँ मूलग्रन्थ और उसके अनुवादका जो परिचय ऊपर दिया गया है वह काफ़ीसे भी कहीं अधिक हो

---

*इस ग्रंथ-प्रशंसाके कुछ वाक्य नमूनेके तौर पर इस प्रकार हैं:—

"जिनवरमुखजातं गौतमाद्यैः प्रणीतं,
सकलमुनिपसेव्यं हि इदं भो भजध्वम्।"
"कुर्वीध्वं ह्यघहानये अनुदिनं स्वाध्यायमस्यैव वै।"–पृष्ठ ४०३
"बुधाश्चेमं ग्रंथं प्रवरगुणदं धर्मजनकं।
अघा नाशं यान्ति श्रवणपठनादस्य निखिलाः।"
"ग्रंथेमं बुधसत्तमाः शिवप्रदं विद्वद्वरेणैव वै।
प्रोक्तं पापप्रणाशकं बुधनुतं सद्बुद्धिदं पावनम्॥"–पृष्ठ ४०८
"सारं सिद्धान्तसिन्धोः सकलमनः प्रियं नेमिचन्द्रेण धीराः।"–पृ० ४१०

गया है और इस बातको सिद्ध करनेके लिये पर्याप्त है कि यह ग्रंथ वास्तवमें कोई जैनग्रंथ नहीं किन्तु जैनग्रन्थोंका कलंक है, पवित्र जैनधर्म तथा भगवान महावीरकी निर्मलकीर्तिको मलिन करने वाला है, सिरसे पैर तक जाली है और विषमिश्रित भोजन के समान त्याज्य है। इसलिये इसके विषयमें समाजका जो कर्तव्य है वह स्पष्ट है—उसे अपने पवित्र साहित्य, अपने पूज्य प्राचीन आचार्योंकी कीर्ति और अपने समीचीन आचारविचारों की रक्षाके लिये ऐसे विकृत एवं दूषित ग्रंथोंका शीघ्रसे शीघ्र बहिष्कार करना चाहिये। ऐसे ग्रंथोंको जैन शास्त्र अथवा जिनवाणी मानना महामोहका विलास है। यह ग्रन्थ 'चर्चा-सागर' से भी अधिक भयंकर है; क्योंकि इसकी गोमुखव्याघ्रता बढ़ी हुई है, और इसलिये ऐसे ग्रन्थोंके सम्बन्धमें और भी ज़्यादा सतर्क एवं सावधान होनेकी ज़रूरत है।

हाँ, अब प्रश्न यह होता है कि ऐसे उभयभ्रष्ट, अतीव दूषित और महा आपत्तिके योग्य ग्रन्थको आचार्य कहे जानेवाले शान्तिसागरजीने कैसे पसंद किया, क्योंकर अपनाया और किस तरह वे उसकी प्रशंसा तथा सिफ़ारिश करने बैठ गये ? इसका कारण एक तो यह हो सकता है कि शातिसागरजीने इस ग्रंथको पढ़ा नहीं—वैसे ही अपने शिष्य एवं मुख्य गणधर पं० नन्दन-लालजीके कथन पर विश्वास करके और उन्हींसे दो चार बातें इधर उधरकी सुनकर वे इसके प्रशंसक बन गये हैं। दूसरा यह हो सकता है कि उन्होंने इस ग्रंथको पढ़ा तो ज़रूर है परन्तु उनमें खुद ग्रंथसाहित्यको जाँचने, परीक्षा करने और उस परसे यथार्थ वस्तुस्थितिको मालूम करने अथवा सत्यासत्यका निर्णय करने आदिकी कोई योग्यता न होनेसे (योग्यताकी यह त्रुटि उनके आचार्य पदके लिये एक प्रकारका दूषण होगा) वे उक्त पंडितजीके प्रभाव में पड़कर यों ही एक साधारण जनकी तरह

इसे अपनाने लगे हैं। और यदि इन दोनोंमेंसे कोई कारण नहीं है तो फिर तीसरा कारण यह कहना होगा कि शान्तिसागरजी भी ग्रंथकार तथा अनुवादकके रंगमें रँगे हुए हैं, उन्हींके आचार-विचार एवं प्रवृत्तिको पसन्द करते हैं और भट्टारकी चलाना चाहते हैं। अन्यथा, ग्रंथको अनुवाद-सहित पूरा पढ़ने और उसके गुण-दोषोंके जांचने की यथेष्ट योग्यता रखनेपर वे कदापि इस ग्रंथको न अपनाते और न अपने संघमें इसका प्रचार होने देते। प्रत्युत इसके, इतना झूठा, कपटी, बनावटी तथा स्वेच्छाचारमय अनुवाद प्रस्तुत करनेके उपलक्षमें अपने शिष्य पं० नंदनलालजीको कभीका संघबाह्य किये जानेका दण्ड देते। जहाँ तक मैं समझता हूँ पहले दो कारणोंकी ही अधिक संभावना है और इसलिये समाजका यह खास कर्तव्य है कि वह आचार्य महाराजजीको इन परीक्षा लेखोंका पूरा परिचय कराए, ग्रंथकी असलियतको समझाए और उनसे अनुरोध करे कि *वे इस विषयमें अपनी भूलको सुधारें, अपनी पोज़ीशनको साफ़ करें और अपने उक्त शिष्य (वर्तमान् क्षुल्लक ज्ञान-सागरजी) को इस महा अनर्थ के कारण खुला प्रायश्चित्त लेनेके लिये बाध्य करें।* यदि वे यह सब कुछ करने करानेके लिये तैयार नहीं होते हैं तो समझना होगा कि तीसरा कारण ही उनकी इस सब प्रवृत्ति का मूल है—वे पं० नन्दनलालजी जैसोंके हाथ किसी तरह बिके हुए हैं। और तब समाजको उनके प्रति अपना जो कर्तव्य उचित जँचे उसे निश्चित कर लेना होगा। इस विषयमें मैं इस समय और कुछ भी अधिक कहने की ज़रूरत नहीं समझता।

अन्तमें सत्यके उपासक सभी जैन विद्वानों तथा अन्य सज्जनोंसे मेरा सादर निवेदन और अनुरोध है कि वे इच्छा-

नुसार लेखकके इन परीक्षालेखोंकी यथेष्ट जाँच करते हुए इस ग्रंथके सम्बन्धमें अपनी स्पष्ट तथा खुली सम्मति प्रकट करनेकी कृपा करें। यदि परीक्षासे—जिसपर मुझे विश्वास है—उन्हें भी यह ग्रंथ ऐसा ही सदोष, निःसार, अनर्थकारी तथा जैन-शासनको मलिन करनेवाला जँचे तो समाजहितकी दृष्टिसे उनका यह मुख्य कर्तव्य होना चाहिये कि वे इसके विरुद्ध अपनी ज़ोरदार आवाज़ उठाएँ और समाजमें इसके विरोधको उत्तेजित करें, जिससे धूर्तोंकी की हुई जैनशासनकी यह मलिनता दूर हो सके। इस समय उनका मौन रहना ठीक नहीं होगा, वह ऐसे अनेक अनर्थकारी ग्रंथोंको जन्म देगा अथवा उन्हें प्रकाशित करानेमें सहायक बनेगा और उससे समाजकी बहुतसी शक्तिका दुरुपयोग होगा। यह ग्रंथ 'चर्चासागर' का बड़ा भाई है और, जैसा कि मैंने ऊपर प्रकट किया है, इसकी गोमुखव्याघ्रता उससे बढ़ी चढ़ी है, जिसके कारण समाजको इससे अधिक हानि पहुँचनेकी संभावना है—ऐसे ही ग्रंथोंकी बदौलत हमारे कितने ही संस्कार एवं आचार विचार भट्टारकीय हो रहे हैं, जिन्हें बड़े प्रयत्नके साथ सुधारना होगा। अतः इसका विरोध एवं बहिष्कार चर्चासागरसे भी अधिक होना चाहिये। जो सज्जन इस सम्बन्धमें अपनी सम्मति मेरे पास भेजनेकी कृपा करेंगे अथवा इसके विरोधी प्रस्तावोंको जैनमित्र, जैनजगत या वीर पत्रमें प्रकाशित कराएंगे उन सबका मैं विशेष आभारी हूँगा। इत्यलम्॥

सरसावा ज़िला सहारनपुर
ता० ६–१–१९३३

जुगलकिशोर मुख़्तार

शुद्धि-पत्र !

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२	२	जी	पं० परमेष्ठीदासजी
३	१३	ज्ञानव्यापक बनाने वाली	(ज्ञान व्यापक बनाने वाली
३	२१	दो	कई
४	६	ग्रन्थमें	ग्रंथमें वस्तुतः
६	२४	२६६	२३६
१६	७	मुनियोंको	आजकलके मुनियोंको
२०	४	पूर्वोका ज्ञान	पूर्वोका
२२	२६	(इस ग्रंथके इस नाम संबंधी)	उस (ग्रंथके इस नाम संबंधी)
२३	२	कि कोई	कि यह कोई
३२	१०	प्रायुः	प्रापुः
३२	१५	संप्रायुः	संप्रापुः
३२	२५	'प्रायुः','संप्रायुः',	'प्रापुः', 'संप्रापुः',
३४	९	मानस्थ	मौनस्थ
४१	१४	नित्याहसो	नित्यांहसो
५५	१	वाक्योंका सार	वाक्योंका यह सार
७९	४	षोषध संयुतम्	प्रोषध संयुतम्
८२	१८	× × ×	ये चिन्ह प्रकृत पंक्तियोंके नीचे नहीं, ऊपर रहेंगे।
८४	२३	× × ×	
९१	६	ह्यधना	ह्यधुना
९३	१०	अप यहाँने	अपने यहाँ
१४०	६	बारह की	बाहरकी
१४०	१९	वोढव्य'	वोढव्या'
१४१	१०	मार्गाश्चिरंतनान्बे	मार्गाश्चिरंतनान्ये

नोट—विन्दु-विसर्ग और विरामचिह्नादिकी अन्यान्य अशुद्धियाँ यहाँ नहीं दीगई जो पढ़ते समय सहज ही में मालूम पड़ जाती हैं।